ॐ

श्रीवादिराजसूरिप्रणीतम्

यशोधरचरितम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)

卐

❀ सम्पादक एवं अनुवादक ❀

डॉ. (पं.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

अधिष्ठाता, श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल

पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर (म.प्र.)

卐

❀ प्रकाशक ❀

श्री आचार्य शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी (राज.)

"स्वयं के श्राद्ध हेतु स्वयं की बलि"

एक अनूठा कथानक

अहिंसा के स्तम्भ पर खड़े रहने वाले धर्मप्राण इस भारत देश में एक समय ऐसा गुजर चुका है जब ये क्रूर मानव धर्म के नाम पर पशु-पक्षियों की एवं मनुष्य की भी बलि चढ़ा कर खुशियाँ मनाते थे। राज्यवृद्धि, भोगलिप्सा, यशःप्राप्ति एवं विजय प्राप्ति आदि के लिए भी बलि देकर भारी हिंसा करते थे। उस समय और भी अनेकानेक निमित्त खड़े करके हिंसा का नग्न नृत्य हुआ करता था। हिंसा ने अहिंसा को निष्कासित करने का बीड़ा उठा रखा था। बड़े-बड़े महन्त, धर्माचार्य एवं राजा लोग हिंसात्मक अनुष्ठानों द्वारा भोली जनता के हृदय में हिंसा की महत्ता का प्रतिष्ठापन कर रहे थे। ऐसे ही समय में मारिदत्त नामक एक ऐसा राजा हुआ जो सत्संग को जहर समझता था तथा क्रूर एवं दुष्ट मनुष्य रूपी सर्पों से वेष्टित रहता था। उसके वीरभैरव नामक कुलाचार्य ने राजा से कहा कि आप यदि "अपने कर-कमलों से समस्त जीवों के जोड़ों की बलि चढ़ा कर चण्डमारी देवी की पूजन करें तो आपको एक ऐसे खड्ग की सिद्धि हो जायेगी जिसके द्वारा आप समस्त विद्याधरों पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य की वृद्धि कर सकेंगे।" इस खड्ग के लोभ में राजा अपने कुलगुरु के निर्देशानुसार भयंकर दुःख देने वाली हिंसा करने के लिए उद्यत हो जाता है। समस्त जीवों के जोड़े मंगाये जाते हैं, मनुष्य-युगल के लिए लघुवय वाले क्षुल्लक क्षुल्लिका को भी वहाँ लाया जाता है। उस बाल-युगल का मनमोहक रूप एवं साधुवेष देखकर राजा उनका परिचय पूछता है, तब वे अभयकुमार क्षुल्लक अपने परिचय में अपने ही पूर्वभवों का रोमांचकारी कथानक कहते हैं –

"मैं उज्जयिनी नगरी में यशोधर नाम का राजा था, मेरी माता का नाम चन्द्रमती था। अमृतमती नाम की मेरी पटरानी का एक कुबड़े महावत से अनुचित सम्बन्ध था। यह दृश्य एक दिन मेरे दृष्टिगत हो गया। अतः मैंने दीक्षा लेने का अपना विचार माँ के समक्ष रखा। माता की प्रेरणा से मैंने मनःशान्ति हेतु आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाई, उसी समय मेरी पट्टमहिषी द्वारा दिये जाने वाले विषमिश्रित खाद्य से हम दोनों की मृत्यु हो गई।

आटे के मुर्गे में मुर्गे की ही स्थापना करने से हमें साक्षात् मुर्गे की बलि सदृश

ही कर्मबन्ध हुआ, जिसके फलस्वरूप हम दोनों माँ-बेटे मयूर और श्वान हुए, फिर नकुल और सर्प, पुनः मत्स्य और सुंसमार, फिर दोनों मर कर बकरा, पुनः बकरा फिर भैंस और कुत्ता रूप में जन्म ले-लेकर हम प्रत्येक भव में अपने पुत्र के राजभवन में लाये गये। श्राद्ध के समय मेरे पुत्र ने मेरी ही बलि चढ़ा कर मेरे ही पिता और दादी के जीव को तृप्त किया।

जब पाप का परिपाक कुछ क्षीण हुआ तब किसी पुण्ययोग से धार्मिक संस्कार मिले। फलस्वरूप उसी उज्जयिनी नगरी के राजकुल में हम भाई-बहिन हुए। पूर्व भवों का जातिस्मरण हो जाने से बालवय में ही हम दोनों ने दीक्षा धारण कर ली, फिर भी आटे के मुर्गे की बलि चढ़ाने के पाप का कुछ अंश अभी अवशेष था जिससे भिक्षार्थ जाते हुए हम दोनों आपके अनुचरों द्वारा बलि चढ़ाने हेतु यहाँ लाये गये हैं।

कथानक अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। आटे के पशु की भी हिंसा करने के भयकर कटुफलों को प्रत्यक्षवत् दर्शाने वाला है।

अनेक आचार्यों एवं महाकवियों ने इस पर अपनी सुलेखनी चलाई है। आचार्य श्री वादिराजजी ने भी यह आख्यान लिख कर हिंसा के फल बताते हुए कुलटा स्त्रियों के चरित्र का चित्रण कर सन्मार्ग दिखाया है। सुखेच्छु भव्य जीवों को इसी अहिंसामार्ग का अनुसरण कर अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए।

श्री पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने इस अपूर्व कृति का भाषान्तर कर अहिंसा की प्रतिष्ठा में एक सराहनीय कार्य किया है। गृहस्थावस्था में रह कर भी आपने अपना सम्पूर्ण जीवन जिनवाणी माता की अपूर्व सेवा में ही व्यतीत किया है, यह अतीव अनुकरणीय है।

पारिवारिक जन-धन की समृद्धि द्वारा सर्व अनुकूलताएं घर में उपलब्ध होते हुए भी आप घर से उदासीन हैं, और मढ़ियाजी (जबलपुर) के गुरुकुल में रह कर जिनवाणी की सेवा में निरन्तर रत हैं। सीढ़ियों से गिर जाने के कारण आपके हाथों में कम्पन होता है फिर भी आपका मन स्वस्थ है अतः शरीर को भी मन के आदेशानुसार लेखनादि का कार्य करना पड़ता है। आपका मन और बुद्धि अन्तिम श्वास पर्यन्त जिनवाणी की सेवा में संलग्न रहे, यही मेरी हार्दिक भावना है।

भद्रं भूयात्।

– आर्यिका विशुद्धमती

प्रास्ताविक लेख

यशोधरचरित की कथावस्तु

अवन्तिदेश-स्थित उज्जयिनी का राजा यशोधर अपनी रानी अमृतमती के साथ रतिक्रीड़ा कर रात्रि में लेट रहा था। रानी उसे सोया जान धीरे से पलंग से उतरी और दासी के वस्त्र पहिन कर भवन से बाहर निकली। यशोधर इस रहस्य को जानने के लिए चुपके से उसके पीछे हो गया। रानी गजशाला में रहने वाले महावत के संगीत से आकृष्ट होकर उससे प्रेम करने लगी थी। राजा यशोधर ने रानी को महावत के साथ रतिक्रीड़ा करते देख दोनों की हत्या करने के लिए तलवार उठायी परन्तु स्त्रीवध को लोकापवाद का कारण समझ चुपचाप वापिस आकर पलंग पर लेट गया। कुछ समय बाद रानी भी चुपके से आकर उसी पलंग पर लेट गयी। रानी के दुराचार से राजा यशोधर को बड़ा दुःख हुआ। उसकी मुखाकृति परिवर्तित हो गयी।

प्रातःकाल होने पर जब वह राजसभा में गया तब उसकी माता चन्द्रमती ने उससे उदासीनता का कारण पूछा। लज्जावश उसने रानी के दुराचार की बात न कह कर अन्य दुःस्वप्न देखने की बात कह दी। माता चन्द्रमती ने बड़े प्यार से कहा कि वत्स! चिन्ता न करो, कुलदेवी चण्डमारि के मन्दिर में बलि चढ़ाने से दुःस्वप्न का फल दूर हो जायगा। यशोधर जीवहिंसा की बात सुन कर सहम गया। चन्द्रमती ने कहा - यदि जीवहिंसा से भय लगता है तो आटे का मुर्गा बना कर उसकी बलि दे दी जायगी। माता के दुराग्रह के सामने यशोधर विवश हो गया और आटे का मुर्गा बनाकर चण्डमारी कुलदेवी को उसकी बलि चढ़ा दी।

इधर रानी अमृतमती के दुराचार से राजा यशोधर खिन्न था अतः उसने माता चन्द्रमती के साथ संन्यास लेने का विचार किया। रानी अमृतमती को ऐसा लगा कि इन दोनों को हमारे दुराचार का पता लग गया है इसीलिए संन्यास को

बात कर रहे हैं। दुराचार की बात फैले नहीं इसलिए उसने उस बालि के मुर्गे में विष मिला कर चन्द्रमती और यशोधर को उसका भोजन करा दिया। इस पाप के कारण अमृतमती रानी तो नरक गयी और चन्द्रमती माता और राजा यशोधर के जीव छह भवों तक पशुयोनि में जन्ममरण करते रहे।

प्रथम भव में यशोधर मोर हुआ और माँ चन्द्रमती का जीव कुत्ता हुआ। **द्वितीय भव** में यशोधर हरिण हुआ और चन्द्रमती सर्प हुई। **तृतीय भव** में दोनों शिप्रा नदी में जलजन्तु हुए। यशोधर का जीव मछली हुआ और चन्द्रमती का जीव मगर हुआ। **चतुर्थ जन्म** में दोनों बकरा-बकरी हुए। **पंचम जन्म** में यशोधर बकरा हुआ और चन्द्रमती कलिंग देश में भैंसा हुई। **छठे भव** में यशोधर मुर्गा और चन्द्रमती मुर्गी हुई। मुर्गा-मुर्गी का मालिक वसन्तोत्सव में कुक्कुट युद्ध दिखाने के लिए उन्हें उज्जयिनी ले गया। वहाँ सुदत्त नाम के आचार्य ठहरे हुए थे। उनके उपदेश से दोनों को जातिस्मरण हो गया। जिससे वे अपने दुष्कृत्य पर पश्चाताप करने लगे। आगामी जन्म में वे राजा यशोमति और रानी कुसुमावली के युगल पुत्र-पुत्री हुए। दोनों अत्यन्त सुन्दर थे। भाई बहिन थे। पुत्र का नाम अभयरुचि और पुत्री का नाम अभयमती रखा गया।

एक बार राजा यशोमति जो कि राजा यशोधर का पुत्र था, अपने परिवार के साथ अवधिज्ञानी सुदत्त आचार्य के दर्शन करने के लिये गया। उपदेश सुनने के बाद उसने अपने पूर्वजों का वर्णन पूछा। दिव्य ज्ञानी सुदत्त आचार्य ने कहा कि तुम्हारे पितामह यशोर्घ अथवा यशबन्धु अपने तपश्चरण के प्रभाव से स्वर्ग के सुख भोग रहे हैं और तुम्हारी माता अमृतमती विष देने के कारण नरक गयी है। तुम्हारे पिता यशोधर और उनकी माता चन्द्रमती आटे के मुर्गे की बलि देने से छह भवों से पशु योनि में दुःख उठा कर अब पाप के प्रति पश्चाताप होने से तुम्हारे पुत्र और पुत्री के रूप मे उत्पन्न हुए हैं। सुदत्त आचार्य के उपर्युक्त वचन सुनकर उन भाई बहिन को जातिस्मरण हुआ है इसलिए उन्होंने संसारभ्रमण से भयभीत हो बाल्य अवस्था में ही क्षुल्लक-क्षुल्लिका के व्रत ग्रहण किये हैं। वे निकट भव्य हैं।

यौधेय देश के राजपुर नगर का राजा मारिदत्त था। उसे एक दिन वीरभैरव नामक कापालिक आचार्य ने बताया कि यदि चण्डमारी देवी के मन्दिर में सब पशुओं तथा मनुष्ययुगलों की बलि चढ़ाई जाय तो तुम विद्याधर-लोक के स्वामी हो जाओगे। कापालिक की बात सुन कर उसने चण्डमारी देवता के मन्दिर में सब पशु पक्षियों के युगल एकत्र करा लिये और मनुष्यों का युगल प्राप्त करने के लिए सेवक भेजे। पूर्वोक्त क्षुल्लक क्षुल्लिका जो भाई-बहिन थे आचार्य सुदत्त की आज्ञा से नगर में चर्या के लिये गये थे। राजा के सेवक उन्हें पकड़ कर चण्डमारी देवता के मन्दिर ले गये।

क्षुल्लक-क्षुल्लिका की प्रशान्त मुद्रा से प्रभावित होकर मारिदत्त राजा ने उनसे अल्पवय में दीक्षित होने का कारण पूछा। उन्होंने पूर्वोक्त कारण बताते हुए सुदत्त आचार्य का परिचय दिया। होनहार अच्छी होने से मारिदत्त उनके दर्शन के लिए गया और उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने समस्त जीवों की हिंसा का त्याग कर दिया।

यह है - यशोधरचरित की कथावस्तु। बलि प्रथा को रोकने वाली इस कथा का लोक में इतना प्रभाव बढ़ा कि इस पर संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत तथा देश की अन्यान्य भाषाओं में ग्रन्थ लिखे गये। श्री वादिराज आचार्य द्वारा लिखित यशोधरचरित लघुकाय काव्य होने पर भी भाषा और भाव के वैभव से परिपूर्ण है। इसी विषय पर सोमदेव आचार्य ने यशस्तिलक चम्पू नामक विशाल चम्पूकाव्य लिखा, जिसकी गद्य-छटा कादम्बरी की गद्यछटा से भी बढ़ कर है, विषय-संकलना की अपेक्षा भी यह अद्वितीय है।

वादिराजसूरि

यशोधरचरित के रचयिता वादिराज सूरि हैं। एकीभाव स्तोत्र का अन्तिम श्लोक इनके वैदुष्य पर पूर्ण प्रकाश डालता है -

वादिराजमनुशाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते वादिराजमनुभव्यसहायः।।

अर्थात् वैयाकरण, तार्किक-न्यायशास्त्र के ज्ञाता, काव्य-निर्माण करने वाले कवि और रत्नत्रय के धारक भव्य जीवों के सहायक परमोपकारक वादिराज से पीछे हैं - उनकी समता नहीं करते।

षट्तर्कभूषण, स्याद्वादविद्यापति और 'जगदेकमल्लवादी' इनकी उपाधियाँ थीं। 'वादिराज' यह नाम भी सूचित करता है कि ये अनेक वादियों को जीतने वाले थे। मल्लिषेण प्रशस्ति में इन्हें वादिविजेता और कवि के रूप में स्तुत किया गया है। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है -

त्रैलोक्यदीपिकावाणी द्वाभ्यामेवोद्गादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः।।

अर्थात् तीन लोकों को प्रकाशित करने वाली वाणी इस वसुधा पर दो से ही प्रकट हुई है - एक जिनराज और दूसरे वादिराज से।

इनके द्वारा लिखित निम्नाङ्कित ग्रन्थ उपलब्ध हैं - १. पार्श्वनाथचरित २. यशोधरचरित ३. एकीभाव स्तोत्र ४. सिद्धिविनिश्चयविवरण और प्रमाण-निर्णय।

इनमें पार्श्वनाथचरित और यशोधरचरित काव्यग्रन्थ हैं, एकीभाव स्तोत्र भक्ति-काव्य है और शेष दो ग्रन्थ न्याय से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

पार्श्वनाथचरित में दस सर्ग हैं, इसमें भगवान् पार्श्वनाथ का चरित काव्य की शैली में लिखा गया है। रस-अलंकार, रीति और गुणों की विधाओं से परिपूर्ण है। भाषा और भाव की दृष्टि से रचना अनुपम है।

यशोधरचरित चार सर्गों में विभक्त है। प्रथम सर्ग में ६२, द्वितीय सर्ग में ७५, तृतीय सर्ग में ८३ और चतुर्थ सर्ग में ७४ पद्य हैं। कथावस्तु यशस्तिलकचम्पू के समान है, जो इसी प्रास्ताविक लेख के प्रारम्भ में दी गयी है।

एकीभाव स्तोत्र : यह भक्तिकाव्य है, जिसमें भक्त ने भगवान् के प्रति

अपने हृदय के भाव सरलभाषा में प्रकट किये हैं। इस स्तोत्र के पढ़ने से हृदय में भक्ति का वास्तविक रूप प्रकट होता है। एकीभाव की रचना के विषय में चमत्कारपूर्ण कथा प्रसिद्ध है। पूर्वकर्मोदय से वादिराज मुनि के शरीर में कुष्ठ रोग हो गया। राजसभा में किसी ने कहा कि जैन मुनि कोढ़ी है, दर्शनीय नहीं है। सभा में उपस्थित भव्य गृहस्थ ने प्रतिवाद करते हुए कहा कि जैनमुनि कोढ़ी नहीं किन्तु सुन्दर शरीर के धारक हैं। राजा ने कहा – मैं कल सुबह मुनिराज के दर्शन करने के लिए आऊँगा। भव्य गृहस्थ ने यह बात मुनिराज से कही। मुनिराज ने एकीभाव स्तोत्र की रचना कर जिनदेव रूपी सूर्य की स्तुति की। स्तुति के प्रभाव से उनका कुष्ट रोग दूर होकर शरीर सुन्दर हो गया। इस चमत्कार से जैनधर्म की अद्भुत प्रभावना हुई। यह एकीभावस्तोत्र 'कल्याणकल्पद्रुम' नाम से भी प्रसिद्ध है।

न्यायविनिश्चय विवरण – अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय नामक तर्कग्रन्थ पर वादिराज ने न्यायविनिश्चय विवरण नामक टीका लिखी है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रतिज्ञावाक्य इस प्रकार है –

प्रणिपत्य स्थिरभक्त्या गुरूपरानप्युदारबुद्धिगुणान्।
न्यायविनिश्चयविवरणमभिरमणीयं मया क्रियते।।

इसमें बौद्ध, मीमांसक, नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन की सुयुक्ति-युक्त समीक्षा की गयी है। भाषा प्रवाहपूर्ण है।

प्रमाणनिर्णय – इस लघुकाय ग्रन्थ में प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय ये चार प्रकरण हैं। अन्य दर्शनकारों द्वारा मान्य प्रमाणलक्षण का निराकरण कर सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण सिद्ध किया गया है। अनुमान के अङ्गों पर भी अच्छा विचार किया गया है। पञ्चरूप्य और त्रैरूप्य का निरसन कर अन्यथानुपपत्ति को सच्चा हेतु सिद्ध किया गया है।

वादिराजमनुशाब्दिकलोको – इस उक्ति से इनके व्याकरणज्ञ होने की बात कही गयी है पर इनके द्वारा रचित व्याकरण का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है।

स्थितिकाल

वादिराज ने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में रचना काल का निर्देश किया है। ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रोदय के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन तथा अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। प्रसिद्ध है कि चालुक्य नरेश की राज्यसभा में इनका बड़ा सम्मान था और प्रख्यात वादी होने से इन्हें 'जगदेकमल्लवादी' कहा जाता था। जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध महाराज थे। इनके राज्यकाल के तीस से अधिक दानपत्र और अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं जिनमें सबसे पहला अभिलेख शकसंवत् ९३८ (ई. सन् १०१६) का है और अन्तिम शकसंवत् ९६४ (ई. सन् १०४२) का है अतएव इनका राज्य काल १०१६-१०४२ ई. सन् है। यशोधरचरित के तृतीय सर्ग के अन्तिम पद्य और चतुर्थ सर्ग के उपान्त्य पद्य में जयसिंहदेव का उल्लेख किया है अतः इससे स्पष्ट है कि यशोधरचरित की रचना भी कवि ने जयसिंह के समय में की है। फलतः वादिराज सूरि की कालस्थिति १०१६ ई. सन् से १०४२ ई. सन् तक सिद्ध होती है।

जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर के ग्रन्थमाला-सम्पादक श्रीमान् पं. कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्ताचार्य के आदेश पर मैंने वादिराजग्रन्थावली के नाम से उनके पार्श्वनाथ चरित, यशोधरचरित, और एकीभाव स्तोत्र का सानुवाद संकलन कर ग्रन्थमाला में भेजा था। धवलाटीका के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का कार्य चालू रहने से उक्त ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आ सके। अन्त में, बहुत प्रतीक्षा के बाद वापिस मँगाने पर यशोधरचरित और एकीभाव ही वापस आया। पार्श्वनाथ चरित की संस्कृत और अनुवाद की पाण्डुलिपि नहीं आयी। पत्राचार करने पर व्यवस्थापक जी ने उत्तर दिया कि मुझे मालूम नहीं, कहाँ गयी। पार्श्वनाथ चरित की भाषा प्रौढ़ संस्कृत है अतः उस पर मैंने संस्कृत टिप्पण भी लिखे थे। अस्तु, मैं प्रकरण को बढ़ाना नहीं चाहता। कल्याणकल्पद्रुम (एकीभाव) और यशोधरचरित का प्रकाशन डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी जोधपुर के सौजन्य से हो रहा है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। कल्याणकल्पद्रुम

(एकीभाव) के प्रकाशन में श्री नेमिचन्दजी आदि पांच सुपुत्रों ने अपने पिताजी की स्मृति में पांच हजार रुपयों का आर्थिक सहयोग किया एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

प्रास्ताविक लेख में स्वर्गीय डा. **नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्य** के '**तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**' के तृतीय भाग से यथेच्छ-आवश्यक सामग्री ली गयी है अतः उनका आभारी हूँ।

डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी जोधपुर, जिनवाणी के प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण सहयोग करते हैं अतः उनका आभार मानता हुआ उनके दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

ग्रन्थ के अनुवाद और सम्पादन मे त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। ८५ वर्ष की अवस्था में अब पूर्वलेखन को पुनः देखने की क्षमता प्रायः समाप्त हो चुकी है अतः विद्वज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ। शरीर की स्थिति देखते हुए लगता है कि यह मेरी अन्तिम रचना होगी।

वर्णी दि. जैन गुरुकुल
पिसनहारी की मढ़िया
जबलपुर (म. प्र.)

विनीत
पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्द-पद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती।।
अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियम्।
अहिंसैव हितं कुर्याद् व्यसनानि निरस्यति।।

❋ हिंसा और उसका फल ❋

अन्धत्वं कुब्जकत्वं च दुष्कुलत्वं कुजन्मनाम्।
दौर्भाग्यत्वं विभीरुत्वं निःस्वामित्वं दरिद्रताम्।।

दीनत्वं निर्धनत्वं च वामनत्वं कुरूपताम्।
भोगोपभोगहीनत्वं दासत्वं बहुशोकताम्।।

नारकत्वं कुतिर्यक्त्वं कुष्ठादिव्याधिसंचयम्।
सर्वानिष्टादिसंयोगं वियोगं चेष्टवस्तुनः।।

निर्दया हिंसका नूनं प्राणिनश्च भवे-भवे।
लभन्ते बहुधाऽशर्म प्राणिघातार्जिताऽशुभात्।।

दयाहीन हिंसक प्राणी प्राणिघात से उत्पन्न अशुभ कर्म से अन्धापन, कुबड़ापन, दुष्कुलता, कुजन्मता, दौर्भाग्य, भीरुपन, स्वामिरहितत्व, दरिद्रता, दीनता, मृत्यु, वामनपन, कुरूपता, भोगोपभोग से रहितपना, दासपन, बहुत शोक से सहितपना, नारकता, खोटा तिर्यञ्चपन, कुष्ठादि रोगों का समूह, सब प्रकार के अनिष्ट पदार्थों के संयोग और इष्टवियोग को भव-भव में प्राप्त होते हैं।

- *सर्वोपयोगिश्लोकसंग्रह से साभार*

❊ प्रथमः सर्गः ❊

श्रीमदारब्धदेवेन्द्रमयूरानन्दनर्तनम्।
[1]सुव्रताम्भोधरं वन्दे गम्भीरनयगर्जितम्।।१।।

अस्माकं जिनसिद्धश्रीसूर्युपाध्यायसाधवः।
कुर्वन्तु गुरवः सर्वे निर्वाणपरमश्रियम्।।२।।

श्रीमत्समन्तभद्राद्याः [2]काव्यमाणिक्यरोहणाः।
सन्तु नः सन्ततोत्कृष्टाः सूक्तरत्नोत्करप्रदाः।।३।।

इतिहाससमासोऽयमत्रावहितचेतसाम्।
आस्रवन्ति शुभान्युच्चैर्निर्जीर्यन्तेऽशुभान्यपि।।४।।

वर्धयत्येष संवेगं विधत्ते शुद्धदृष्टिताम्।
प्रध्वस्तीकुरुते व्याधीनाधीन[3]पहरत्यलम्।।५।।

श्रीपार्श्वनाथकाकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा [4]याशोधरी कथा।।६।।

इहास्ति भारते [5]वास्ये देशे यौधेयनामनि।
पुरं राजपुरं नाम्ना [6]राजराजपुरोपमम्।।७।।

जातर्स्वरमयो यस्य परिधिश्चुम्बिताम्बुदः।
भाति मध्यंदिनार्कस्य परिवेष इवान्वहम्।।८।।

प्रासादशिखरप्रोतपद्मरागमरीचिभिः।
मध्याह्नार्कातपो यत्र मिश्रो बालातपायते।।९।।

१. विंशतितमतीर्थंकरमेघम् २. काव्यान्येव माणिक्यानि तेषां रोहणा रत्नोत्पादकगिरि-विशेषाः ३. मानसिकव्यथाः ४. यशोधरस्येयं याशोधरी ५. क्षेत्रे ६. अलकापुरीसंनिभम्

❀ प्रथम सर्ग ❀

मैं उन मुनिसुव्रतनाथ भगवान रूपी मेघ को नमस्कार करता हूं जिन्होंने अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मी के हर्ष से इन्द्ररूपी मयूरों के हर्षपूर्ण नृत्य को आरब्ध किया था, तथा जो मेघों की गम्भीर गर्जना से सहित थे ।।१।।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये सर्व गुरु हमारी निर्वाण रूपी उत्कृष्ट लक्ष्मी को करें ।।२।।

जो काव्य रूपी मणियों के लिये रोहणगिरि के समान थे तथा सदा उत्कृष्ट रहते थे ऐसे श्रीमान् समन्तभद्रादि आचार्य हमारे लिए सुभाषित रूपी रत्नसमूह को देने वाले हों ।।३।।

यह संक्षिप्त इतिहास है, इसमें जो चित्त लगाते हैं उनके उत्कृष्ट शुभकर्मों का आस्रव होता है और अशुभ कर्मों की निर्जरा भी होती है ।।४।।

यह संक्षिप्त इतिहास संवेग को बढ़ाता है, शुद्ध सम्यग्दर्शन को करता है, व्याधियों को नष्ट करता है और मानसिक व्यथाओं को अच्छीतरह दूर करता है ।।५।।

जिसने श्री पार्श्वनाथचरित की कथा रची थी उन श्री वादिराज सूरि के द्वारा यशोधर महाराज की कथा रची गयी है।।६।।

इस भरतक्षेत्र के यौधेय नामक देश में अलकापुरी के समान राजपुर नामका नगर है ।।७।।

जिसका सुवर्णमय गगनचुम्बी कोट प्रतिदिन मध्याह्न के सूर्य के परिवेष-मण्डल के समान सुशोभित होता है ।।८।।

महलों के शिखरों पर संलग्न पद्मराग मणियों की किरणों से मिश्रित मध्याह्न के सूर्य का आताप जहाँ प्रातःकाल के स्वर्णिम आताप के समान आचरण करता है ।।९।।

यन्नित्यं धनदावासकेतुभिर्वातकम्पितैः।
दूरादाह्वयतीवोच्चैरर्थिनः सर्वदिङ्मुखैः।।१०।।

यस्मिन्नसमलावण्यनिर्मितावयवा अपि।
सर्वाङ्गमधुरायन्ते भोगिनां मृगलोचनाः।।११।।

यत्र [1]प्रत्युरसं नारीपयोधरपरिस्पृशः।
कामदावाग्निसंतापान्मुच्यन्ते युवभूभृतः।।१२।।

यत्र च स्पृहयालुभ्यो [2]दायं दायं व्ययीकृताः।
अपि प्रत्यहमेधन्ते सतां विद्या इव श्रियः।।१३।।

[3]अवाच्यां दिशि तस्यास्ति चण्डमारीति देवता।
एकान्ततः प्रिया यस्याः प्राणिनामुपसंहृतिः।।१४।।

या च सत्त्वोपघातेन यथाकालमनर्चिता।
राज्यराष्ट्रोपघाताय रौद्रमूर्तिः प्रकल्पते।।१५।।

आराधिता तु तत्पौरैरुचितोपक्रमेण या।
दुर्भिक्षमारकव्याधिप्रध्वंसेन प्रसिध्यति।।१६।।

[4]इषे चैत्रे च [5]मास्यस्याः पुरः पौरैर्नृपान्वितैः।
यात्रा निर्वर्त्यते चित्तप्रसादाद्वरलिप्सुभिः।।१७।।

न्यवेदयदिवागत्य मधुस्तस्यै निजागमम्।
[6]माकन्दकलिकास्वादमत्तकोकिलनिस्वनैः।।१८।।

उद्गिरन् दिशि दिश्युच्चै रक्ताशोकस्य मञ्जरीः।
जहारेव बलिं तस्यै स कालः स्वस्य [7]शोणितैः।।१९।।

देवतावासचूतानां शाखासु [8]परपुष्टकैः।
शूल्यमांसैरिवातस्थे [9]मधुनोपायनीकृतैः[10]।।२०।।

१. वक्षःस्थलोपरि २. दत्त्वा दत्त्वा ३. दक्षिणस्याम् ४. कार्तिके ५. मासे ६. आम्र
७. रुधिरैः ८. कोकिलैः ९. वसन्तर्तुना १०. उपहारीकृतैः

जो नगर, नित्य ही सब दिशाओं में स्थित तथा वायु से कम्पित धनिक-जनों के महलों की ऊँची पताकाओं के द्वारा याचकों को मानों बुला ही रहा है।।१०।।

जिस नगर में स्त्रियाँ अनुपम लावण्य - खारापन (पक्ष में सौन्दर्य) से निर्मित अवयवों से युक्त होकर भी भोगीजनों के लिए सर्वाङ्ग से मधुर मीठी (पक्ष में मनोहर) जान पड़ती हैं ।।११।।

जहाँ वक्षःस्थल पर स्त्रियों के पयोधर - स्तनरूपी मेघों का स्पर्श करने वाले तरुण जन रूपी मेघ कामरूपी दावानल के संताप से मुक्त हो जाते हैं।।१२।।

जहाँ इच्छुक मनुष्यों के लिए बार-बार देकर खर्च की हुई भी सत्पुरुषों की संपदाएँ विद्याओं के समान प्रतिदिन बढ़ती रहती हैं ।।१३।।

उस राजपुर नगर की दक्षिण दिशा में एक चण्डमारी देवी रहती है जिसे एकान्तरूप से प्राणियों की हिंसा प्रिय है ।।१४।।

जो यथासमय जीवों के उपघात से नहीं पूजी जाय तो भयंकररूप धारण कर राजा और राष्ट्र के उपघात के लिए होती है ।।१५।।

तथा नगरवासियों के द्वारा उचित विधि से पूजी जाय तो दुर्भिक्ष और मारी रोग को नष्ट कर प्रसिद्धि को प्राप्त होती है।।१६।।

इस देवी के चित्त की प्रसन्नता से वर प्राप्त करने के इच्छुक राजा सहित नगरवासी जनों के द्वारा कार्तिक और चैत्र के महीने में यात्रा की जाती है।।१७।।

मधु-चैत्र मास ने आकर आम्रमञ्जरियों के स्वाद से मत्त कोयलों के शब्दों के द्वारा मानों उस देवी के लिए अपने आगमन की सूचना दी थी।।१८।।

लाल अशोक वृक्ष की मञ्जरियों को प्रत्येक दिशा में बहुत ऊँचाई तक उड़ाता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानों रक्त के द्वारा उस देवी को बलि ही चढ़ा रहा हो।।१९।।

मन्दिर के आम्रवृक्षों की शाखाओं पर कोयलें ऐसी बैठी थीं मानों वसन्त ऋतु के द्वारा उपहार में दिये हुए शूल से पकाये हुए मांस ही स्थित हों।।२०।।

[illegible] विलम्बयितुमक्षमः।
देवतावासमायासीन्मारिदत्तो नराधिपः।।२१।।

पौराः पुरपतेस्तस्य नियोगादविलम्बितम्।
आनिन्युरखिलाशाभ्यो युग्मं युग्मं तनूभृताम्।।२२।।

कुक्कुटच्छागसारङ्गवराहमहिषादयः।
चुक्रुशुर्देवतावासे दीर्घबन्धनपीडिताः।।२३।।

तद्ध्वनिस्फारसंबाधान्निर्भिन्ना तत्र तत्र भूः।
विवृताधोगतिद्वारबहुरन्ध्रेव निर्बभौ।।२४।।

[1]प्रभुरुत्खातखड्गस्तु चण्डकर्माणमादिशत्।
मृग्यतां मर्त्ययुगलं शुभलक्षणसंभृतम्।।२५।।

तस्मिन्मया स्वहस्तेन देव्यै [2]व्यापादिते सति।
पौरास्तांस्तान्विनिघ्नन्तु जीवांस्तिर्यक् प्रसारिणः।।२६।।

अन्यथा विधिविध्वंसो देव्यै कोपमुपानयन्।
बालस्त्रीपशुवृद्धानां विप्लवाय[3] विजृम्भते।।२७।।

इति स्वामिनियोगेन चण्डकर्मा कृतत्वरः।
प्रस्थाप्येतस्ततो भृत्यान्स्वयं चान्वेष्टुमव्रजत्।।२८।।

अस्मिन्नवसरे धीमान् पञ्चशत्या सुसंयतैः।
आगतस्तत्पुरोद्यानं सुदत्तो मुनिपुङ्गवः।।२९।।

स [4]त्रिदोषविनिर्मुक्तः स त्रिदण्ड[5] विवर्जितः।
स [6]त्रिशल्यापविध्वंसी स [7]त्रिगारवदूरगः।।३०।।

१. उन्मीलितकृपाणः २. मारिते ३. विनाशाय ४. रागद्वेषमोहाः त्रिदोषाः ५. मनोवाक्कायव्यापाराः त्रिदण्डाः ६. मायामिथ्यात्वनिदानानि त्रिशल्यानि ७. ऋद्धि रस सातानि त्रिगारवाणि

तदनन्तर देवी की पूजा के काल में विलम्ब करने के लिए असमर्थ राजा मारिदत्त देवी के मन्दिर में आया।।२१।।

नगरवासी लोग उस राजा की आज्ञा से समस्त दिशाओं से प्राणियों के युगल ले आये।।२२।।

मुर्गा, बकरा, हरिण, सुअर तथा भैंसा आदि जीव लम्बे बन्धन से पीड़ित हो मन्दिर में चिल्ला रहे थे।।२३।।

उन सब जीवों के शब्दों के आघात से पृथिवी जहाँ-तहाँ विदीर्ण हो गयी थी, उनसे वह ऐसी जान पड़ती थी मानों अधोगति के द्वारों को ही प्रकट कर रही हो।।२४।।

तलवार उभारे हुए राजा ने चण्डकर्मा को आज्ञा दी कि शुभलक्षणों से परिपूर्ण मनुष्यों का युगल खोजा जाय।।२५।।

जब मैं अपने हाथ से देवी के लिए उस मनुष्य-युगल को मार चुकूँ तब नगरवासी लोग समधरातल पर फैले हुए उन-उन जीवों को मारें।।२६।।

यदि ऐसा न किया गया तो विधि की न्यूनता देवी को क्रोध उत्पन्न कर देगी और वह क्रोध बालक, स्त्री, पशु तथा वृद्धों का विघात करने के लिए वृद्धि को प्राप्त होगा।।२७।।

इस प्रकार स्वामी की आज्ञा से शीघ्रता करने वाले चण्डकर्मा ने इधर-उधर सेवक भेजे और स्वयं भी मनुष्य-युगल को खोजने के लिए गया।।२८।।

इसी समय बुद्धिमान् तथा पाँच सौ मुनियों से सहित सुदत्त नामक मुनिराज उस नगर के उद्यान में आये।।२९।।

वे मुनिराज तीन दोषों से रहित थे, तीन दण्डों से वर्जित थे, तीन शल्यों को नष्ट करने वाले थे, तीन प्रकार के गारवों-मदों से दूर थे।।३०।।

स [1]सप्तभयनिर्मुक्तः सत्त्वानामभयप्रदः।
स स्वाध्यायपरो नित्यं स शुद्धज्ञानदीधितिः।।३१।।

स एकस्तपसां धाम स व्रतानां महोदधिः।
स [2]भव्याम्बुजतिग्मांशुः स शीलाचारनिर्मलः।।३२।।

स शंसितव्रतैः सार्धमासीनः पावने क्वचित्।
मार्गातिचारनियमं तत्परो निरवर्तयत्।।३३।।

ततः कृतोपवासायां तद्दिने मुनिसंहतौ[3]।
अनुजग्राह भिक्षायै स मुनिः [4]क्षुल्लकद्वयम्।।३४।।

प्रणिपत्य मुनिं गच्छत्तच्च तच्चण्डकर्मणा।
जगृहे प्रथमं पश्चान्निन्ये [5]राजपुरेश्वरम्।।३५।।

तदाभयरुचिर्वाचमनुजामित्यवोचत।
मातश्चेतः समाधेहि मा स्म मृत्योर्भयं कृथाः।।३६।।

किं न वेत्सि चिराभ्याससुसहं दुःखमावयोः।
कथं वा दुःखनिर्मुक्तिः काये [6]तत्कारणे नृणाम्।।३७।।

तस्मादवश्यभोक्तव्ये किमुद्वेगः[7] करिष्यते।
किं च तीव्रं तपः प्राहुः परीषहजयं बुधाः।।३८।।

अग्रजस्य निशम्योक्तिमुवाचाभयमत्यपि।
आवयोरस्ति किं भीतिर्ज्ञातपूर्वापरान्तयोः।।३९।।

इदमेव हि विद्वत्त्वमिदमेव हि तत्फलम्।
यन्मनो विदुषामुच्चैर्मध्यस्थं सुखदुःखयोः।।४०।।

१. इहलोक-परलोक-वेदना-मरण-आकस्मिक-अरक्षा- अगुप्ति नामानि सप्तभयानि २. भव्यकमलमार्तण्डः ३. मुनिगृहे ४. क्षुल्लकश्च क्षुल्लिका च इति क्षुल्लकौ तयोर्द्वयम् 'पुमान् स्त्रिया' इति पुंलिङ्ग शेषः ५. मारिदत्तमहीपतिम्, ६. तस्य दुःखस्य कारणे काये सतीति शेषः ७. भयम्

सात भयों से निर्मुक्त थे, जीवों को अभय देने वाले थे, निरन्तर स्वाध्याय में तत्पर रहते थे और शुद्ध ज्ञान रूप किरणों से युक्त थे।।३१।।

वे तप के अद्वितीय स्थान थे, व्रतों के महासागर थे, भव्यजीव रूप कमलों के लिए सूर्य थे, तथा शील और आचार से निर्मल थे।।३२।।

वे प्रशंसनीय व्रतों के धारक मुनियों के साथ किसी पवित्र स्थान पर बैठ कर तत्परता से मार्ग सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण कर रहे थे।।३३।।

तदनन्तर उस दिन अन्य मुनियों ने उपवास कर लिया अतः सुदत्त मुनिराज ने क्षुल्लक युगल के लिए चर्यार्थ जाने की आज्ञा दी।।३४।।

मुनिराज को प्रणाम कर वह क्षुल्लक युगल जा रहा था कि चण्डकर्मा ने पहले उसे पकड़ लिया पश्चात् राजपुर के राजा मारिदत्त के पास ले गया।।३५।।

उस समय अभयरुचि क्षुल्लक ने अपनी छोटी बहिन क्षुल्लिका से इस प्रकार के वचन कहे – हे मातः! चित्त को स्थिर करो, मृत्यु से भय नहीं करो।।३६।।

क्या नहीं जानती हो, चिरकाल के अभ्यास से हम लोगों को दुःख सहन करना सरल हो गया है। मनुष्यों का शरीर ही दुःख का कारण है, उसके रहते हुए दुःख से छुटकारा कैसे हो सकता है?।।३७।।

इसलिए जब दुःख अवश्य भोगना है तब भय क्या करेगा? दूसरी बात यह है कि विद्वज्जन परीषह-जय को उत्कृष्ट तप कहते हैं।।३८।।

बड़े भाई का कथन सुन अभयमती भी बोली – पूर्वापर तत्त्व को जानने वाले हम दोनों को भय क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं।।३९।।

यही विद्वत्ता है और यही विद्वत्ता का फल है कि विद्वानों का मन सुख और दुःख में माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होता रहे।।४०।।

आश्वासयन्तावन्योन्यमिति तौ राजपुत्रकौ।
आसेदतुरनाशङ्कौ[1] [2]चण्डमारीनिकेतनम्।।४१।।

रक्तसंमार्जिता [3]रक्ता नित्यं यस्याजिरक्षितिः[4]।
प्रसारितेव जिह्वोच्चैर्देव्या रक्तासवेच्छया।।४२।।

मांसस्तूपाः[5] स्वयं यत्र मक्षिकापटलावृताः।
छर्दिताश्चण्डमार्येव बहुभक्षणदुर्जराः।।४३।।

नवैर्नरशिरोभिर्यत्प्राकारशिखरोद्धृतैः।
[6]अन्वेष्ट्रीवाशु जीवानां देवता बहुभिर्मुखैः।।४४।।

राज्ञि संनिहिते तस्मिन्नाशिषे प्रेरितौ जनैः।
तावाशीर्वादमीदृशमध्यैषातां[7] मनीषिणौ।।४५।।

सर्वसत्त्वहितो यस्तु सर्वलोकसुखप्रदः।
विदध्यास्तेन धर्मेण राजन्राजन्वतीं[8] क्षितिम्।।४६।।

मारिदत्तस्तु तौ दृष्ट्वा निर्भयस्पष्टभाषिणौ।
प्रशान्तश्चिन्तयामास [9]विस्मयस्मेरलोचनः।।४७।।

देवद्वन्द्वमिदं किं नु मानवाकारवञ्चितम्।
उतस्विन्नागमिथुनं निर्जितस्मरतत्प्रियम्[10]।।४८।।

न कदाचिन्मया दृष्टमभिरूपकमीदृशम्।
अहो चिराय मे जाता नेत्रदृष्टिःफलावहा।।४९।।

अपि चोत्खातखड्गं मां दृष्ट्वा देवीं च निष्कृपाम्।
न चित्तमनयोस्त्रस्तमहो शौर्यमनुत्तरम्[11]।।५०।।

इत्यपृच्छदभिव्यक्तं कौ युवां कुत आगतौ।
किं कुलौ किं निमित्तं वा बाल्ये [12]भोगास्पृहावुभौ।।५१।।

१. निर्भयौ २.एतन्नामदेवीमन्दिरम् ३. लोहितवर्णा ४. अङ्गणभूमिः
५. मांसराशयः ६. अन्वेषणकर्त्री ७. पठितवन्तौ ८. प्रशस्तराजसहिताम्
९. आश्चर्यविस्फारितनयनः १०. स्मरश्च तत्प्रिया च स्मरतत्प्रिये निर्जिते स्मरतत्प्रिये येन तत् ११. श्रेष्ठतरम् १२. भोगस्पृहारहितौ

इस प्रकार परस्पर समझाते हुए दोनों राजपुत्र किसी आशंका के बिना ही चण्डमारी के मन्दिर जा पहुँचे।।४१।।

जिस मन्दिर के आंगन का भूमि रक्त से सम्मार्जित होने के कारण निरन्तर लाल-लाल रहती थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों रक्तपान की इच्छा से देवी ने अपनी लम्बी जीभ ही फैला रक्खी हो।।४२।।

जहाँ मक्खियों के पटल से ढके हुए मांस के ढेर लगे हुए थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानों चण्डमारी ने उन्हें अधिक मात्रा में खा लिये थे किन्तु हजम न होने से वमन कर दिये हों।।४३।।

जिसके कोट के शिखर पर टंगे हुए मनुष्यों के नवीन शिरों से वह देवी ऐसी जान पड़ती थी मानों बहुत मुखों के द्वारा जीवों को बहुत जल्दी खोज रही हो।।४४।।

राजा के निकटस्थ होने पर लोगों ने उन क्षुल्लक युगल को आशीर्वाद देने के लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप उन बुद्धिमानों ने इस प्रकार का आशीर्वाद पढ़ा।।४५।।

हे राजन्! जो सब जीवों का हितकारी है तथा सब लोगों को सुख देने वाला है उस धर्म के द्वारा तुम पृथिवी को उत्तम राजा से युक्त करो।।४६।।

निर्भय और स्पष्ट बोलने वाले उन दोनों को देख कर जो अत्यन्त शान्त हो गया था तथा जिसके नेत्र आश्चर्य से चकित हो गये थे ऐसा मारिदत्त विचार करने लगा।।४७।।

क्या यह मनुष्यों के आकार से प्रतारित देवों का युगल है अथवा काम और उसकी प्रिया को जीतने वाला नागकुमारों का युगल है।।४८।।

मैंने कभी ऐसा रूप नहीं देखा। अहो! चिरकाल बाद मेरी नेत्रवृष्टि सफल हो गयी।।४९।।

तलवार उभारे हुए मुझे तथा दया-रहित देवी को देख कर भी इनका चित्त भयभीत नहीं हुआ। अहा! इनका शौर्य सर्वोत्कृष्ट है।।५०।।

राजा ने उनसे स्पष्ट पूछा कि आप दोनों कौन हैं? कहाँ से आये हैं? आपका कुल क्या है? और किस कारण बाल्यावस्था में भोगों से निःस्पृह हुए हैं?।।५१।।

ततोऽभयरुचिर्धीमांस्तस्योत्तरमुदाहरत्।
वाङ्मयूखैर्निराकुर्वन्दुरन्तं दुरितं तमः।।५२।।

आवयोश्चरितं राजन् धार्मिकेभ्योऽभिरोचते।
अधर्मरसिकश्चासि त्वं तत्किमभिलप्यते।।५३।।

प्रकृतिर्विपरीता न क्षमते गुणदर्शनम्।
पित्तज्वरवतः क्षीरं मधुरं नावभासते।।५४।।

तदलं कथयास्माकं कुरु पथ्यं यदात्मनः।
यच्च कर्मानुरूपं नस्तदस्तु प्रगुणा वयम्।।५५।।

इत्युक्तस्तेन निस्त्रिंशं[2] निरस्य रचिताञ्जलिः।
निर्बबन्ध नृपो भूयः कुमारोऽप्यब्रवीदिदम्।।५६।।

तदास्थानसरः सर्वं करवारिजकुड्मलैः।
पूजयामास बालेन्दुं धर्मामृतरसच्युतम्[3]।।५७।।

उपजातिः

भो भो नराधीश्वर साधु साधु,
त्वया मतिर्धर्मपथे निबद्धा।
कालेन भव्यत्वगुणो हि दीप्तः
कल्याणबुद्धिं कुरुते नराणाम्।।५८।।

धर्मामृतस्यन्दिनि सूक्तिसारे
ततोऽवधानं कुरु मामकीने।
श्रद्धानबुद्ध्या हि [4]निशम्यमानो
निःशेषयत्येतदशेषदुःखम्।।५९।।

१. तत्पराः २. खड्गम् ३. धर्म एव अमृतरसस्तं च्योतयतीति धर्मामृतरसच्युत् तम्
४. श्रूयमाणः

तदनन्तर बुद्धिमान् अभयरुचि क्षुल्लक ने उसका उत्तर दिया। उत्तर देते समय वे वचन रूपी किरणों के द्वारा उसके दुरन्त-दुःखकारक पाप रूपी अन्धकार को नष्ट कर रहे थे।।५२।।

हे राजन्! हम दोनों का चरित धार्मिक जनों के लिए रुचता है और आप अधर्मरसिक हैं - अधर्म से प्रीति करने वाले हैं इसलिये क्या कहा जावे?।।५३।।

विपरीत प्रकृति गुणदर्शन को सहन नहीं करती है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वाला मनुष्य किसी के गुण नहीं देखता है। ठीक ही है क्योंकि पित्तज्वर वाले को दूध मीठा नहीं लगता है।।५४।।

इसलिए हमारी कथा रहने दो, अपने लिए जो हितकारी हो वह करो, हमारे कर्म के अनुरूप जो हो वह हो, हम तैयार हैं।।५५।।

अभयरुचि के द्वारा इस प्रकार कहे हुए राजा ने तलवार फेंक हाथ जोड़ कर पुनः आग्रह किया। तब कुमार भी यह कहने लगे।।५६।।

उस समय संपूर्ण सभा रूपी सरोवर ने हाथ रूप कमल की बोंडियों से धर्मामृत रूपी रस को चुवाने वाले बालक रूपी चन्द्रमा की पूजा की। भावार्थ - सभा में स्थित सब लोगों ने हाथ जोड़ कर क्षुल्लक अभयरुचि की पूजा की।।५७।।

अभयरुचि ने कहा कि हे राजन्! बहुत अच्छा, बहुत अच्छा हुआ जो आपने धर्ममार्ग में बुद्धि लगायी। ठीक ही है क्योंकि काल पाकर प्रकट हुआ भव्यत्वगुण मनुष्यों को हितबुद्धि करता ही है।।५८।।

इसलिये धर्मामृत को झराने वाली मेरी श्रेष्ठ सूक्ति में चित्त स्थिर करो क्योंकि श्रद्धान की बुद्धि से सुनी गयी श्रेष्ठ सूक्ति इस समस्त दुःख को समाप्त कर देती है।।५९।।

इदं न साक्षात्कृतविश्वतत्त्वै-
जिनेश्वरैः केवलमभ्यधायि।
तदा तदा दुःखसहस्रदग्धै-
रस्माभिरप्यन्वहमन्वभावि॥६०॥

द्रुतविलम्बितम्

तत इदं चरितामृतमावयोः
सकलदोषपरिक्षयकारणम्।
तव नरेन्द्र वदामि सविस्तरं
समवधेहि सतां प्रतिभाषितम्॥६१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एतत्सारमुदारसौख्यसुभगस्थानोपपत्तिप्रदं
कल्याणं परिकीर्त्य बद्धमनसः संशृण्वते ये बुधाः।
तेऽमी कुन्दशशाङ्कनिर्मलयशःश्रीदिग्ध[1]दिग्भित्तयः
श्रेयः [2]शाश्वतमाप्नुवन्ति भुवने भुक्तोरुभोगश्रियः॥६२॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते यशोधरचरिते
प्रथमः सर्गः

१. आचित २. ख्यापि

यह दुःख समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले जिनेन्द्र भगवान ने ही नहीं कहा है किन्तु उस-उस समय हजारों दुःखों से दुखी हम लोगों ने इसका अनुभव भी किया है।।६०।।

इसलिए हमारा यह चरितरूपी अमृत समस्त दोषों के नाश का कारण है। हे राजन्! मैं तुम्हारे लिए विस्तार से इसे कहता हूँ, आप सत्पुरुषों के इस कथन को हृदय में धारण करो।।६१।।

हमारा यह चरित्र, उत्कृष्ट सुख के सुन्दर स्थान-मोक्ष की सिद्धि को देने वाला है। इस हितकारक चरित को बुद्धि स्थिर कर जो विद्वान् सुनते हैं वे कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति रूपी लक्ष्मी के द्वारा दिशाओं की दीवालों को लिप्त करते हुए तथा संसार में उत्कृष्ट भोगलक्ष्मी का उपभोग करते हुए शाश्वत कल्याण मोक्ष को प्राप्त होते हैं।।६२।।

इस प्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित यशोधरचरित में प्रथमसर्ग समाप्त हुआ।

❋ द्वितीयः सर्गः ❋

उपजातिः

[1]अस्त्यूर्जितावन्तिषु कान्तभोगैः पुरी जगत्युज्जयिनी प्रसिद्धा।
महोदया मान्यते समृद्धया या राजधानीं [2]शतयज्वनोऽपि।।१।।

अनेकयुद्धेष्ववलिप्तवैरि-विध्वंसनाविष्कृत-विक्रमश्रीः।
बभूव तस्यां नयविन्नरेन्द्रो यशोर्घ इत्यूर्जितनामधेयः।।२।।

स धंसते [3]यत्कुमुदावदातं यशो दिशां भित्तिषु बद्धलेपम्।
ततस्तमाहुः कवयो यशोघं [4]पृषोदराद्युक्तनिरुक्त्यभिज्ञाः।।३।।

तस्यार्पिता प्रत्युरसं रहस्ये चर्चेव नित्यं हरिचन्दनस्य।
प्रवृद्धरागा स्मरतापमुच्चैश्चन्द्रानना चन्द्रमती जहार।।४।।

तयोरतुल्यो नयविक्रमाभ्यामासीत्सुपुत्रः स यशोधराख्यः।
अभ्युद्धरन् दिक्षु यशःप्रकाशं क्षीरोदकल्लोलकलाप शुभ्रम्।।५।।

विमुच्य कान्तिः शरदिन्दुबिम्बं भूयःक्षयापत्तिभयातुरेव।
तस्याक्षयश्रीनिलयस्य वक्त्रं [5]व्याकोचनीलोत्पलमध्युवास।।६।।

उरस्तु विस्तीर्णमुदारधाम्नस्तस्योल्लसन्मौक्तिकहारयष्ट्या।
श्रियस्तदन्तर्वसतेर्विरेजे संभोगहासप्रभयेव बद्धम्।।७।।

घनौ भुजौ तस्य भुजङ्गदीर्घौ देहाविव द्वौ रणविक्रमस्य।
[6]अरातिराजोर्जितमण्डलानामकल्पिषातामिव राहुकेतू।।८।।

१. बलवदवन्तिदेशेषु २. इन्द्रस्यापि ३. कुमुदोज्ज्वलम् ४. 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इतिसूत्रोक्तसिद्धिज्ञातारः ५. विकसित ६. अरातयः शत्रव एव राजानः चन्द्रास्तेषामूर्जितानि मण्डलानि बिम्बानि तेषाम्

❁ द्वितीय सर्ग ❁

शक्तिसंपन्न अवन्तिदेश में मनोहर भोगों से जगत् प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की नगरी है जो अपनी समृद्धि से इन्द्र की भी वैभवशालिनी राजधानी को बुलाती है - ललकारती है।।१।।

उस उज्जयिनी में अनेक युद्धों के बीच अहंकारी शत्रुओं को नष्ट करने से प्रकटित, पराक्रम लक्ष्मी से सहित, यशोघ नाम का नीतिज्ञ राजा था।।२।।

जिस कारण वह कुमुद के समान उज्ज्वल यश को दिशाओं की दीवालों में बज्रलेप करता था इसलिए 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र में कथित व्युत्पत्ति के ज्ञाता कवि उसे यशोघ कहते थे।।३।।

जो हरिचन्दन-लालचन्दन की चर्चा के समान एकान्त में वक्षःस्थल पर संलग्न रहती थी तथा जिसका राग-स्नेह (पक्ष में लाल वर्ण) बढ़ा हुआ था ऐसी चन्द्रमुखी चन्द्रमती रानी निरन्तर उसके बहुत भारी कामसंताप को हरती थी।।४।।

उन दोनों के नीति और पराक्रम से अनुपम यशोधर नामका वह सुपुत्र हुआ जो कि दिशाओं में क्षीरसमुद्र की तरङ्गमाला के समान सफेद यश के प्रकाश को धारण करता था।।५।।

'फिर से हमारा क्षय न हो जाय' इस भय से दुखी होकर ही मानों शरद् ऋतु के चन्द्रमण्डल की कान्ति, उसे छोड़ कर अविनाशी लक्ष्मी के घर स्वरूप उस यशोधर पुत्र के खिले हुए नेत्ररूपी नीलकमलों से युक्त मुख में रहने लगी थी।।६।।

महातेजस्वी यशोधर का मोतियों की हारयष्टि से सुशोभित चौड़ा वक्षःस्थल, ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उसके भीतर रहने वाली लक्ष्मी के संभोग सम्बन्धी हास्य की कान्ति से ही युक्त हो।।७।।

उसकी सर्प के समान लम्बी और मोटी वे भुजाएँ जो कि युद्ध सम्बन्धी पराक्रम के मानों दो शरीर ही थे, शत्रु राजाओं के देशों को ग्रसने के लिए राहु और केतु के समान थीं।।८।।

निस्त्रिंशनिर्दारित-वैरिकुम्भी नृपनृसिंहः स पराक्रमेण।
तन्व्या तु सौन्दर्यनिवासभूम्या जगाम कीर्तिं भुवि सिंहमध्यः ।।९।।

तस्योत्तमाशेषगुणस्य कश्चिन्न मध्यमो नापि गुणो जघन्यः।
तस्मिन्न भेजुस्तत एव तृप्तिं ताभ्यां सकामा हि [1]नितम्बवत्यः ।।१०।।

पादौ तदीयौ नवपद्मरागौ क्रियाविधानादुपलब्धशोभौ।
किमद्भुतं यत्पृथिवीपतीनां चूडामणित्वं गुणतोऽजिहाताम्[2] ।।११।।

[3]देवी तु तस्यामृतमत्यभिख्या [4]सेन्दो रसांशैरिव निर्मिताङ्गी।
तामेव कुर्वन्नलिकामजस्रं तन्मानसास्वादमबोधि कामः ।।१२।।

यशोमतिं नाम यशोघपौत्रं [5]यशोमृताप्यायितविश्वलोकम्।
तया स पुत्रं जनयांबभूव पूताक्रताव्येव जयन्तमिन्द्रः ।।१३।।

तत्रात्मसंपद्गुणवत्युदारे यूनि प्रयुज्याखिलराज्यभारम्।
निराकुलस्वान्तनिसृष्टरागः श्रियं यशोघश्चिरमन्वभुङ्क्त ।।१४।।

अथैकदास्थानगतस्तु राजा निषेव्यमाणो नरलोकनाथैः।
[6]आदर्शदृष्ट्या [7]पलितानि दृष्ट्वा जघान तृष्णां विषयेषु भव्यः ।।१५।।

राज्यं पृथिव्याः प्रतिपाद्य सद्यो यशोधरायोर्जितविक्रमाय।
विरक्तिभाजां नु शतेन राज्ञां तपोवनं भूमिपतिर्जगाम ।।१६।।

१. स्त्रियः २. प्राप्नुताम् ३. राज्ञी ४. सा इन्दौ इति पदच्छेदः ५. यश एवामृतं कीर्ति पीयूषं तेन आप्यायिताः संतोषिताः विश्व लोका येन तम् ६. दर्पणदर्शनेन ७. शुक्ल-केशान्

तलवार से शत्रु रूपी हाथियो को विदीर्ण करने वाला वह यशोधर, पराक्रम की अपेक्षा पूर्ण सिंह था परन्तु सौन्दर्य की निवासभूमि स्वरूप शरीर के द्वारा 'सिंहमध्य' सिंह का मध्य भाग (पक्ष में सिंह के समान पतली कमर वाला) होता हुआ पृथिवी में कीर्ति को प्राप्त हुआ था।।९।।

समस्त उत्तम गुणों से सहित उस यशोधर का न तो कोई गुण मध्यम था और न कोई गुण जघन्य था इसीलिये कामवती स्त्रियाँ उन गुणों से उसमें तृप्ति को प्राप्त नहीं हुई थीं।।१०।।

उसके दोनों पैर संस्कार विशेष से सुशोभित नूतन पद्मराग मणि थे अतः वह गुणों के द्वारा जो राजाओं के चूड़ामणित्व को प्राप्त हुआ था इसमें आश्चर्य की क्या बात थी?।।११।।

राजा यशोधर की अमृतमती नामकी वह रानी थी जिसका शरीर चन्द्रमा के रस से ही मानों निर्मित हुआ था। उसी अमृतमती को नाली बनाकर कामदेव निरन्तर यशोधर के मन का स्वाद जानता था।।१२।।

उस यशोधर ने अमृतमती रानी के द्वारा यश रूपी अमृत से समस्त लोक को संतुष्ट करने वाले यशोमति नामक पुत्र को उस तरह उत्पन्न किया जिस तरह कि इन्द्र ने इन्द्राणी के द्वारा जयन्त नामक पुत्र को उत्पन्न किया था (यह लौकिक दृष्टान्त है) यशोमति राजा यशोघ का पौत्र था।।१३।।

अपने ही समान संपदा तथा गुणों से युक्त उस उत्कृष्ट युवा पुत्र पर समस्त राज्य का भार सौंप कर निराकुलचित्त राजा यशोघ विरागभाव से चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का उपभोग करते रहे।।१४।।

तदनन्तर एक दिन राजा यशोघ राजसभा में बैठे थे, अनेक राजा उनकी सेवा कर रहे थे। उसी समय उस भव्य राजा ने दर्पण में अपने सफेद बाल देख कर विषय-तृष्णा को नष्ट कर दिया।।१५।।

राजा यशोघ, प्रबल पराक्रमी यशोधर के लिये शीघ्र ही पृथिवी का राज्य देकर विरक्ति भाव को प्राप्त सी राजाओं के साथ तपोवन को चले गये।।१६।।

तस्मिन्नवे भर्तरि सानुरागा सा स्त्रीस्वभावादिव राज्यलक्ष्मीः।
अनारतं तत्कृतमेव भक्त्या सुव्यक्तमङ्गेषु बभूव पुष्टा॥१७॥

गुणामृतैस्तस्य निषिच्यमाना पत्युर्वियोगेन विमुच्य तापम्।
ससज्ज तस्मिन् प्रकृतिः समस्ता सौरीव[1] नीहारकरे[2] मरीचिः॥१८॥

क्रोधावहं तच्चरितं न पुंसामुद्वेजनोऽसौ न विविच्यकारी।
न चावमन्ता विनयोत्तरश्रीर्दाता स लोभं न सहिष्णुरासीत्॥१९॥

तेजोमयं तस्य नृपस्य चक्षुर्निमील्य तन्मुख्यमवाप्य निद्राम्।
अन्येन सर्वाङ्गभुवा तु जाग्रत्स तस्कराणामहरत्प्रवृत्तिम्॥२०॥

मन्त्रक्रियाभ्यामसियष्टिवेद्यां स्वतेजसाभिज्वलितेन राजा।
[3]निरास्थदुद्यद्रिपुकेतुदौःस्थ्यं समग्रसिद्ध्यै निजमण्डलस्य॥२१॥

दिनावसाने स विसृज्य लोकं प्रासादमारुह्य सरत्नभित्तिम्।
कदाचिदासिष्ट मनोजतृप्त्यै सप्रेयसीगर्भगृहे सहेलम्॥२२॥

वहन् बहिश्चारुगवाक्षरन्ध्रैरामोदितान्तर्भवनस्तदानीम्।
कपोतपक्षच्छविरुज्जजृम्भे निर्हारिकालागरुपिण्डधूमः॥२३॥

आताम्रकप्रद्युतिरत्नदीपैस्तस्मिञ्जनाः पाटलवर्णभाजाम्।
[4]व्याकोशमल्ली कुसुमानि धाम्नामवागमंस्तन्नवसौरभेण॥२४॥

१. सूरस्य सौर्यस्य इयं सौरी तद्वत्   २. तुहिनकरे चन्द्रमसीत्यर्थः
३. निराकृतवान्   ४. विकसित -

वह राज्यलक्ष्मी स्त्री स्वभाव से ही मानों उस नवीन भर्ता में अनुराग करने लगी और उसी के द्वारा की हुई भक्ति-सेवा से ही मानों वह स्पष्ट रूप से अपने अङ्गों में पुष्ट हो गयी।।१७।।

उसके गुण रूपी अमृत के द्वारा सींची गयी समस्त प्रजा, पूर्व नरेश के वियोग से उत्पन्न संताप को छोड़कर उसमें उस प्रकार संसक्त हो गयी जिस प्रकार सूर्य की रश्मि चन्द्रमा में संसक्त हो जाती है।।१८।।

उसका चरित क्रोध को धारण करने वाला नहीं था। विचार कर कार्य करने वाला वह पुरुषों को उद्विग्न करने वाला नहीं था। वह किसी का अपमान नहीं करता था। उसकी राज्यश्री विनय से परिपूर्ण थी। वह दानी था तथा लोभ को सहन नहीं करता था।।१९।।

उस राजा का चक्षु तेजोमय था। उस तेजोमय मुख्य चक्षु को निमीलित कर वह निद्रा को प्राप्त होता था और सर्वाङ्ग में व्याप्त अन्य चक्षु से जागता हुआ चोरों की प्रवृत्ति को दूर करता था।।२०।।

उस राजा ने अपने देश की पूर्ण सिद्धि के लिये खड्गयष्टि रूपी वेदी में मन्त्र और क्रिया के द्वारा जिस स्वकीय तेज को प्रज्वलित किया था उसके द्वारा उसने उदित होते हुए शत्रु रूपी केतु की दुष्टता को नष्ट कर दिया था। भावार्थ - वह राजा गुप्त मन्त्रणा और तदनुरूप क्रिया के द्वारा अपने राज्य में दुष्टों को आगे नहीं आने देता था।।२१।।

वह दिन के अन्त में लोगों को विदाकर रत्नमय दीवालों से युक्त महल पर चढ़ कभी काम की तृप्ति के लिये स्त्री सहित गर्भगृह में विनोद पूर्वक बैठा था।।२२।।

उस समय भवन के अभ्यन्तर भाग को सुगन्धित कर सुन्दर झरोखों के छिद्रों से बाहर बहता हुआ कबूतर के पङ्ख की कान्तिवाला मनोहर कालागरु बत्तियों का धूम वृद्धि को प्राप्त हो रहा था।।२३।।

उस भवन का प्रकाश कुछ-कुछ लाल रङ्ग के सुन्दर कान्तिवाले रत्नदीपों से पाटलवर्ण का हो गया था इसलिये लाल प्रकाश के बीच खिले हुए मालती के फूलों को लोग उनकी नूतन सुगन्धि के द्वारा ही जान पाते थे।।२४।।

आवर्तमानः परिमन्दवृत्त्या वातायनद्वारि चिरं विरेजे।
[1]कर्पूरधूलीसुरभिर्नभस्वान् श्वासायित[2] स्तद्गृहदेवतायाः ।।२५।।

[3]आमेचके मन्मथ[illegible]दीपशा [illegible]
स चन्दनस्थासक[4]बन्धुराङ्गीं देवीमुदारां रमयांबभूव।।२६।।

क्षणं स तस्या वदनारविन्दे जग्राह लीलां भ्रमरस्य कामी।
क्षणं तु पीनस्तनयोर्निकामं जहार [5]चर्चां हरिचन्दनस्य।।२७।।

क्षणं तया नूतनरत्नभाजा भुजेन कण्ठे परिरभ्यमाणः।
कृताभ्रमु[6]स्पर्श इवेन्द्रदन्ती[7] भेजे स भावं भृशमुन्मदिष्णुः।।२८।।

क्षणं जिघृक्षुर्जघने निधानं [8]नीवीधरान्तर्गतमुत्पलाक्ष्याः।
उत्सारयामास कृतोपजापस्तद्वेष्टयन्तं रशनाभुजङ्गम्।।२९।।

आलिङ्गनं गाढमपास्य तस्मिन् दत्तेक्षणे कामिनि नाभिमूले।
फूत्कारदुर्वारमणिप्रदीपेष्वतीव सुभ्रूरकृताभ्यसूयाम्।।३०।।

निपीड्य दन्तच्छदमुद्दशन्तं सा वेदनासीत्कृतगर्भकण्ठी।
कचावकृष्टेन तु मल्लिकानां दाम्ना दृशा कोपकरी जघान।।३१।।

रतिक्रियायां विपरीतवृत्तेस्तस्याः स्तनाभ्यामवमुच्यमानम्।
प्रियस्य तस्योरसि [9]धर्मतोयं कामानलाज्याहुतिवत्पपात।।३२।।

ततो रजन्यां परिणामवत्यां रतोत्सवारम्भपरिश्रमेण।
आश्लिष्य कान्तां श्लथभावबन्धं निद्रासुखं भूमिपतिः प्रपेदे।।३३।।

अत्रान्तरे दन्तिनि राजवाह्ये तद्वासगेहे [10]समयावबद्धे।
तत्र स्थितो हस्तिपकस्तु जाग्रद्बबन्ध गीतं गमकाभिरम्यम्।।३४।।

[11]तन्मूर्च्छनाभिः स्फुटमभ्युदीर्णं तत्प्रौढमाभोगवता स्वरेण।
तत्सुप्रयोगान्मधुरावदातं तद्बन्धुरं मालवपञ्चमेन।।३५।।

१. वायुः २. श्वास इवाचरित ३. [illegible] ४. तिलक- ५. लेपं ६. ऐरावत हस्तिनी ७. ऐरावतो गजः ८. [illegible] ९. स्वेदजलम् १०. निकटे ११. [illegible]विशेषैः

झरोखों के द्वार पर मन्द-मन्द बहता हुआ, कपूर की धूली से सुगन्धित वायु उस गृहदेवता के श्वास के समान चिरकाल तक सुशोभित हो रहा था।।२५।।

वह पलंग के रत्नों की कान्ति से कुछ-कुछ श्यामवर्ण, सफेद चद्दर से आच्छादित रुई के गद्दे पर चन्दन के तिलकों से सुन्दर शरीर वाली उत्कृष्ट अमृतमती देवी को रमण कराता था।।२६।। *

तदनन्तर जब रात्रि परिपाक को प्राप्त हुई तब रतोत्सव प्रारम्भ करने के परिश्रम से यशोधर कान्ता का आलिङ्गन कर निद्रासुख को प्राप्त हुआ। निद्रा-सुख के समय उसका कामभाव कुछ शिथिल हो गया था।।३३।।

इसी बीच में राजा की सवारी का हाथी राजमहल के समीप जहां बंधता था वहाँ स्थित जागते हुए महावत ने एक सुन्दर गीत गाया।।३४।।

वह गीत पृथक्-पृथक् मूर्च्छनाओं से परिपूर्ण था, सुविस्तृत स्वर से प्रौढ़ श्रेष्ट था, उत्तम प्रयोग से मधुर तथा उज्ज्वल था और मालव पञ्चम नामक स्वर से सहित था।।३५।।

* श्लोक संख्या २७ से ३२ तक का भाव मूल से जानना चाहिए।

निमीलयन्ती नयनोत्पले सा देवी परिम्लानतनू रतान्ते।
आकर्णयामास सुखावहं तच्चकार तृष्णामपि रक्तकण्ठे॥३६॥

ततः प्रभाते [1]तदधीनचित्ता दूतीमुपस्थापयति स्म तस्मिन्।
सा तं निरीक्ष्यैव निवर्तमाना निनिन्द राज्ञीं गुणवत्यभिख्या॥३७॥

अहो विचित्रं [2]मकरध्वजस्य विडम्बनं [3]स्तम्भितवस्तुबुद्धेः।
देवी तु मर्त्याकृतिरुर्वशी सा यदीदृशं कामयते निकृष्टम्॥३८॥

आस्यादिकं दुःसहपूतिगन्धि निसर्गतोऽङ्गं परिभुग्नपृष्ठम्।
संदिग्धमधिभ्रुवमस्य नास्ति ग्रीवा [4]शिरस्यास्तु विलूनशीर्णाः॥३९॥

आस्यं पुनर्वायसतुण्डकृष्णं दन्ताश्च केचिद्बहिरन्तरन्ये।
करावजस्रं करिमूत्रदिग्धौ दग्धव्रणक्लेदयुतस्तु कुक्षिः॥४०॥

असौ कथं नाम नरेन्द्रपत्न्यै रोचेत रुच्याकृतिमुद्वहन्त्यै।
यद्वा किशोरं [illegible]निन्दया मे [illegible] हि [illegible]॥४१॥

एतत्स्वचेतोगतमेव दूती न्यवेदयत्तामुपसृत्य तन्वीम्।
सा तां प्रति प्रत्यवदन्नतभ्रूर्मुखेन कामातुरगद्गदेन॥४२॥

वयो नवं रूपमतीव रम्यं कुलोन्नतिश्चेति कुबुद्धिरेषा।
यत्र प्रसन्नो भगवान्मनोभूः स एव देवः सखि सुन्दरीणाम्॥४३॥

सतोऽपि रूपातिशयस्य साध्यं नितम्बिनीमानसरत्नलाभः।
तस्यास्ति चेत्तत्किमतो विचारात्कार्ये तु सिद्धे न हि कारणेच्छा॥४४॥

१. तस्मिन् हस्तिपके अधीनं कामुकं चित्तं यस्याः सा २. कामस्य
३. अवरुद्धयथार्थज्ञानस्य ४. केशाः

रतिक्रिया के अन्त में जिसका शरीर कुछ म्लान पड़ गया था ऐसी रानी अमृतमती नेत्रकमल बंद कर ही रही थी कि उसने सुखदायक उस गीत को सुना। सुना ही नहीं उसने उस सुरीले कण्ठ वाले महावत में इच्छा भी की।।३६।।

तदनन्तर उस कामी में जिसका चित्त लग रहा था ऐसी रानी ने प्रातः काल उसके पास दूती भेजी। गुणवती नाम की दूती उस महावत को देख कर ही लौट आयी और रानी की निन्दा करने लगी।।३७।।

अहो! वस्तु के यथार्थ ज्ञान को रोकने वाले काम की विचित्र विडम्बना है। क्योंकि मनुष्याकार को धारण करने वाली उर्वशी रूप देवी ऐसे निकृष्ट - नीच महावत को चाह रही है।।३८।।

इस महावत के मुख आदिक दुःसह दुर्गन्ध से युक्त हैं, शरीर स्वभाव से ही झुकी हुई पीठ से युक्त है, आँखें और भौंह हैं या नहीं, यह संशय का विषय है, गर्दन है ही नहीं और सिर के केश लुञ्चित तथा शीर्ण हैं।।३९।।

मुँह कौए के मुख के समान काला है, दाँत कुछ बाहर हैं कुछ भीतर हैं, हाथ निरन्तर हाथी के मूत्र से लिप्त रहते हैं और पेट जलने के घाव के मवाद से युक्त है।।४०।।

यह सुन्दर आकृति को धारण करने वाली रानी के लिये कैसे रुच सकता है? अथवा मुझे ऐसी चिन्ता से क्या प्रयोजन है? क्योंकि अयोग्य मनुष्य में प्रीति करना स्त्रियों का स्वभाव है।।४१।।

दूती ने यह अपना मनोगत भाव उस कृशाङ्गी रानी के पास जाकर कह दिया। इसके उत्तर में नत भौंहों वाली रानी काम से आतुर तथा गद्गद मुख से बोली।।४२।।

नवीन अवस्था, अत्यन्त सुन्दर रूप और ऊँचा कुल...... यह सब विचार करना कुबुद्धि है। हे सखि! भगवान् काम जिस पर प्रसन्न हो सुन्दरियों के लिए वही देव है।।४३।।

अच्छे से अच्छा श्रेष्ठ रूप हो, उसका साध्य तो स्त्री के मनरूपी रत्न को प्राप्त कर लेना ही है। यदि उस महावत के वह है तो फिर इस विचार से क्या प्रयोजन है? क्योंकि कार्य के सिद्ध होने पर कारण की इच्छा नहीं रहती।।४४।।

तस्मादसौ मां प्रति कामदेवस्तद्गीतनालीहृतचित्तवृत्तिम्।
किं वा वयस्ये बहुनोदितेन न तेन जीवामि बिना कृताहम्।।४५।।

इत्थं तया दर्शितरागवृत्त्या देव्या सनिर्बन्धमुदीर्यमाणा।
आगत्य सा सत्वरमष्टभङ्गं दूती ततस्तत्प्रियमन्वतिष्ठत्।।४६।।

रात्रिंदिवं तेन यथावकाशं सुखानि तस्याः किल निर्विशन्त्याः।
दिनक्रमेणापचयं जगाहे यशोधरे राजनि रागबुद्धिः।।४७।।

आलोकनालिङ्गनचुम्बनादौ तस्याः स्थितिं तामनवेक्षमाणः।
बुद्ध्यैव पूर्वं परिशोधनार्थं सज्जोऽभवच्चन्द्रमतीतनूजः[1]।।४८।।

आस्थाननिर्वासितराजलोकः स सज्जितं वासगृहं प्रविश्य।
सव्याजनिद्रो निशि दिव्यशय्यां तयैव देव्या सममध्यशेत।।४९।।

निद्रायतस्तस्य भुजोपगूढामाकृष्य देवी निजदेहयष्टिम्।
गृहीतताम्बूलसुगन्धमाल्या जगाम तस्योपपतेः समीपम्।।५०।।

अन्वेष्टुकामो नृपतिश्च तस्या दुश्चेष्टितं [2]कोशनिसृष्टखड्गः।
अन्वव्रजत्तत्पदवीं निगूढ[3]मासन्नविध्वंस इवापनीतिम्।।५१।।

विलम्ब्य कालं नरनाथपत्नीमुपस्थितां प्रत्युदितप्रकोपः।
आकृष्य केशग्रहणेन घोरं जघान जारः स [4]वरत्रमुष्ट्या।।५२।।

निघृष्यमाणा भुवि तेन पद्भ्यां मलीमसेनाकृतविप्रलापा।
इतस्ततोऽगात्समसैव काले निपीड्यमाना दिवि चन्द्रकान्तिः।।५३।।

१. यशोधरः २. कोशनिःसारितकृपाणः ३. निकटनिपातः ४. चर्मनिर्मितरज्जुमुष्ट्या।

इसलिये उसकी संगीत रूपी नाली के द्वारा जिसकी मनोवृत्ति हरी गयी है ऐसी मेरे प्रति वह कामदेव है। हे सखि! अधिक कहने से क्या लाभ है? उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती।।४५।।

इस प्रकार रागवृत्ति को दिखाने वाली उस रानी के द्वारा आग्रहपूर्वक कही गयी उस दूती ने शीघ्र ही उस अष्टभङ्ग महावत के पास आकर उसे रानी का प्रेमी बना दिया।।४६।।

यथावसर रातदिन उसके साथ सुखोपभोग करती हुई रानी की रागबुद्धि राजा यशोधर में क्रम-क्रम से क्षीणता को प्राप्त हो गयी।।४७।।

आलोकन, आलिङ्गन तथा चुम्बन आदि में उसकी उस पूर्वानुभूत स्थिति को न देखता हुआ राजा यशोधर बुद्धि द्वारा परिशोध करने के लिये पहले से तैयार था।।४८।।

एक दिन वह सभा से राजसमूह को विदा कर सुसज्जित निवासगृह में प्रविष्ट हुआ और रात्रि में छलपूर्ण निद्रा लेकर उसी रानी के साथ सुन्दर शय्या पर सो गया।।४९।।

जब रानी ने देखा कि राजा सो रहे हैं तब उनकी भुजाओं से आलिङ्गित अपनी शरीरयष्टि को खींच कर तथा पान, सुगन्धित पदार्थ और माला ले कर वह उस उपपति के समीप गयी।।५०।।

राजा उसकी दुष्टचेष्टा का पता लगाना चाहता था इसलिये वह म्यान से तलवार निकाल कर गुप्तरूप से उस के मार्ग में उस तरह पीछे-पीछे चला जिस तरह कि निकटकाल में मरनेवाला मनुष्य अपनीति के पीछे चलता है।।५१।।

रानी समय का विलम्ब कर पहुँची थी इसलिये उस जार ने क्रुद्ध होकर उसके केश खींच उसे चमड़े की मुट्ठी से खूब पीटा।।५२।।

उस मलिन शरीर जार ने उसके दोनों पैर पकड़ कर जमीन पर घसीटा जिससे वह चीख उठी तथा उस प्रकार इधर-उधर हो गयी जिस प्रकार कि रात्रि के समय अन्धकार के द्वारा पीड़ित चन्द्रमा की कान्ति आकाश में इधर-उधर होती रहती है।।५३।।

कण्ठे पदं न्यस्य च गाढमूर्च्छां स तामवादीदिति सोपहासम्।
पादौ वहेऽहं तव तन्वि मूर्ध्ना मूका कुतस्तिष्ठसि मुञ्च शोकम्।।५४।।

निःश्वस्य सा तं कथमप्यवादी [1]दागो न मे संहर कान्त कोपम्।
राज्ञा सहार्धासनमेव दीर्घं हेतुस्तु मे कालविलम्बनस्य।।५५।।

रूपादिभिस्त्वय्यवसायिभिर्मे तृप्यन्ति सर्वाण्यपि चेन्द्रियाणि।
त्वं जीवितव्यं मम यावदायुरनादरस्त्वय्यथ किं मम स्यात्।।५६।।

[2]प्रत्यायितेनेत्युपभुज्यमानां राजा स तां तेन विलोक्य कोपात्।
आन्दोलयन्खड्गमुभौ जिघांसुः[3] पुनर्वितर्कं धृतिमानकार्षीत्।।५७।।

क्षुद्रः कियानेष गजोपजीवी न जातु नारी विकृतापि वध्या।
[4]सत्क्षात्रमेतन्मम तन्न किं तु यशः परं भ्रश्यति हारशुभ्रम्।।५८।।

अयं च युद्धे रिपुवीरघाती खड्गः कथं क्षुद्रजने निपात्यः।
दंष्ट्राङ्कुरं निर्दलितेभकुम्भं न [5]फेरवे जातु हरिः[6] प्रयुङ्क्ते।।५९।।

इति स्वचेतस्यवधार्य शान्त्या निवृत्त्य शय्यापुलिने शयानम्।
तं राजहंसं पुनरन्वशेत व्यावृत्य सा देव्यपि गुप्तवृत्त्या।।६०।।

यत्तस्य गाढं परिरम्भणेच्छां बबन्ध पूर्वं कृतरागबुद्धेः।
तदेव तस्याः स्तनयोस्तदानीं कार्कश्यमुद्वेजन[7]माजहार[8]।।६१।।

१. अपराधः २. विश्वासं प्रापितेन ३. हन्तुमिच्छुः ४. क्षत्रियोचित कर्म
५. शृगाले ६. सिंहः ७. भयम् ८. उत्पादयामास

इस मार से रानी को अत्यधिक मूर्च्छा आ गयी। उसी दशा में वह उसके पैर अपने कण्ठ पर रखकर ताना देता हुआ उससे इस प्रकार बोला कि हे कृशाङ्गि! मैं तुम्हारे पैर सिर पर धारण कर रहा हूं। चुप क्यों बैठी हो, शोक छोड़ो ।।५४।।

किसी तरह सांस भर कर रानी उससे बोली कि हे नाथ! मेरा अपराध नहीं है, क्रोध दूर कीजिये, राजा के साथ दीर्घकाल तक अर्धासन पर रहना ही मेरे विलम्ब का कारण है।।५५।।

आपकी प्राप्ति का निश्चय करने वाले रूपादि से मेरी सभी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं अर्थात् मेरे रूपादिक का उपभोग आपके द्वारा हो इसी में मेरी इन्द्रियाँ संतुष्ट रहती हैं, आप ही मेरे जीवन हैं, जब तक आयु है तब तक आप में मेरा अनादर कैसे हो सकता है?।।५६।।

इस प्रकार विश्वास दिलाये हुए जार के द्वारा भोगी जाने वाली रानी को देखकर राजा क्रोध से तलवार चलाता हुआ उन दोनों को पहले तो मारने की इच्छा करने लगा परन्तु पश्चात् धैर्य धर कर उसने विचार किया।।५७।।

हाथी के द्वारा आजीविका करने वाला वह क्षुद्र महावत कितना है? और स्त्री कदाचित् विकृत भी हो तो भी वह मारने योग्य नहीं है। यह मेरा उत्तम क्षत्रिय धर्म नहीं है किन्तु इससे – उन दोनों को मारने से मेरा हार के समान उज्ज्वल यश ही नष्ट होता है।।५८।।

युद्ध में शत्रु-वीरों का घात करने वाला यह खड्ग क्षुद्र जीव पर कैसे गिराया जावे? सिंह, हाथी के गण्डस्थल को विदीर्ण करने वाले अपने दाढ़ के अग्रभाग को शृगाल के ऊपर कभी प्रयुक्त नहीं करता।।५९।।

इस प्रकार अपने चित्त में विचार करता हुआ राजा शान्ति से लौट कर पुनः शय्या रूपी पुलिन पर सो गया और वह रानी भी गुप्त वृत्ति से लौट कर पुनः उसी श्रेष्ठ राजा (पक्ष में राजहंस) के पीछे सो गयी।।६०।।

उसके स्तनों की जो कठोरता पहले रागभाव धारण करने वाले राजा को गाढ़ आलिङ्गन की इच्छा उत्पन्न करती थी वही उस समय उसके लिए उद्वेग - भय उत्पन्न करने लगी थी।।६१।।

उदस्य तस्याः सुरतोपचारं निद्रामिवाधिक्यवतीं दधानः।
तत्साहसोद्वेगवता निकामं स भूमिनाथो मनसेत्यवोचत्॥६२॥

इयं हि सर्वावयवाभिरामा वश्यापि कामं मकरध्वजस्य।
कथं निकृष्टेऽपि रमेत यद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः॥६३॥

रूपं मनोहारिणि यौवनं च वृथैव पुंसामभिमानवृद्धिः।
नतभ्रुवां चेतसि [1]चित्तजन्मा प्रभुर्यदिवेच्छति तत्करोति॥६४॥

इयं द्वितीया मम राजलक्ष्म्या यदेवमुच्चैर्व्यभिचारभूमिः।
कथं च तस्यां चपलप्रकृत्यां विश्वासमत्यन्तमुपव्रजामि॥६५॥

तत्कामवश्यं धिगिदं मनो मे धिग्धिग्विभूतीरसुखप्रचाराः।
प्रव्रज्यया[2] तां पुनरव्यपायामन्वेषयिष्यामि हि सिद्धिकान्ताम्॥६६॥

इत्थं परामृश्य परैर्विकल्पैर्निमील्य नेत्रे शयने शयानः।
आकर्णितैर्बुद्ध इवोत्थितोऽभूत्प्राभातिकैर्मङ्गलगीतनादैः॥६७॥

कृत्वा घृतावेक्षणमुच्चकैर्गां स्पृष्ट्वा भिषग्भिः प्रविचिन्त्य कायम्।
स नर्मबन्धुः [3]प्रघणोपविष्टां देवीं सखीमध्यगतामपश्यत्॥६८॥

प्रहासगोष्ठीं विरचय्य बुद्ध्या संक्रीडमानः स तया नरेन्द्रः।
जघान तस्याः सुकुमारमङ्गं लीलागृहीतेन नवोत्पलेन॥६९॥

तद्वेदनां सोढुमिवाक्षमत्वान्निपातयन्तीं [4]तनुमुर्वरायाम्।
आश्वासयंश्चन्दनवारिसेकैरवोचदेवं कृपयेव भूपः॥७०॥

१. कामः २. भिक्षाश्रया ३. गृहदेहल्यामुपविष्टां ४. पृथिव्याम

उसके संभोग सम्बन्धी उपचार की उपेक्षा कर अधिक नींद को धारण करते हुए के समान वे चुपचाप पड़े रहे और उसके साहस से अत्यन्त उद्विग्न मन के द्वारा इस प्रकार कहने लगे।।६२।।

यह सर्वाङ्ग सुन्दरी रानी भले ही कामदेव की वशीभूत है तो भी नीच में कैसे रमण करने लगी? अथवा विषय की अभिलाषा मोह उत्पन्न कर देती है।।६३।।

मनोहर रूप और यौवन के विषय में मनुष्यों की व्यर्थ ही अभिमान बुद्धि होती है। स्त्रियों के चित्त का स्वामी तो काम है, वह जिसे चाहता है, स्त्री वही करती है।६४।।

एक तो राज्यलक्ष्मी मेरी है और दूसरी यह है परन्तु जब यह इस प्रकार अत्यधिक व्यभिचार की भूमि है तब इस चञ्चल प्रकृतिवाली में मैं कैसे विश्वास को प्राप्त होऊँ?।।६५।।

इसलिये काम के वशीभूत रहने वाले मेरे इस मन को धिक्कार हो। अब मैं दीक्षा के द्वारा उस अविनाशी मुक्ति रूपी स्त्री को खोजूंगा।।६६।।

इस प्रकार अन्यान्य विकल्पों से विचार करता हुआ वह नेत्र बंद कर शय्या पर पड़ा रहा। तदनन्तर प्रभातकालीन मङ्गल गीतों को सुनकर वह ऐसा उठा जैसे जाग कर ही उठा हो।।६७।।

घी को देख कर, उत्तम गाय का स्पर्श कर तथा वैद्यों के साथ शरीर का विचार कर वह क्रीड़ाप्रेमी राजा जब भीतर गया तब उसने सखियों के मध्य में देहरी पर बैठी रानी को देखा।।६८।।

प्रहास-गोष्ठी कर राजा उसके साथ बुद्धिपूर्वक क्रीड़ा करने लगा। उसी समय उसने लीलापूर्वक लिये हुए नवीन नीलकमल से रानी के सुकुमार शरीर को ताड़ित किया।।६९।।

उसकी वेदना को सहने में असमर्थ होने के कारण ही मानों जो शरीर को पृथिवी पर गिरा रही थी ऐसी उस रानी को चन्दन मिश्रित जल के सींचने से आश्वस्त करता हुआ राजा दयाभाव से ही मानों इस प्रकार बोला।।७०।।

अनेन रन्ध्रेषु [1]रसच्युता ते [2]कृष्णाननेनाद्य निपीडितायाः।
दैवेन केनापि वरं विदग्धे निवारितः संनिहितोऽपि मृत्युः॥७१॥

इत्येवमासूचितरात्रिवृत्तमादाय वाचं प्रतिबोध्य राज्ञीम्।
उद्वेगभून्ना जननीसमीपं जगाम राजा क्वचिदव्यवस्थः॥७२॥

हरिणी

विनयविनमन्मूर्धानं सा निरीक्ष्य निजात्मजं
विवृतनयनद्वन्द्वेनापातुमिच्छुमिवादरात्।
निकटविधृतं मूर्धन्याघ्राय चन्द्रमती तदा
प्रमदमधिकं भेजे [3]भूरिस्नुतोरुपयोधरा॥७३॥

मालिनी

कुलधरवनिताभिः सा सती रत्नपात्री -
तनयशिरसि कृत्वा नव्यदूर्वाक्षतौघान्।
इदमशिषदशेषामुर्वरां रक्ष दीर्घं
करधृतकरवालोन्मूलितारातिवर्गः॥७४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

प्रम्लायद्वदनाम्बुजे निजवधूदुर्वृत्तचिन्ताभरा -
न्निःश्वस्यायतमुष्णमुष्णमवनीचक्रेश्वरे तस्थुषि।
इत्थं चन्द्रमती तदेकतनयं मोहादवोचद्वचो -
दृप्तारातिविमर्दलब्धविजयश्रीदत्तकीर्तिध्वजम्॥७५॥

इति श्रीमद्वादिराजसूरिविरचिते यशोधरचरिते महाकाव्ये
द्वितीयः सर्गः॥

१. रसस्राविणा २. कृष्णमुखेन-हस्तेन नीलोत्पलेन
३. भूरिस्नुतौ क्षरितदुग्धौ उरुपयोधरौ पीनस्तनौ यस्याः सा।

छिद्रों-घावों में रस छोड़ने वाले इस कृष्णमुख नीलकमल के द्वारा आज तुम इतनी पीड़ित हो गयी कि मृत्यु निकट आ गयी। हे चतुरे! वह मृत्यु किसी दैव के द्वारा रोक दी गयी, यह अच्छा हुआ।।७१।।

इस प्रकार, रात्रि के वृत्तान्त को सूचित करने वाले वचन लेकर उसने रानी को प्रतिबोधित किया। पश्चात् उद्वेग की अधिकता से जो अव्यवस्थित सा हो रहा था ऐसा वह राजा माता के पास गया।।७२।।

जिसका मस्तक विनय से नम्रीभूत हो रहा था तथा जो खुले हुए दोनों नेत्रों से आदरपूर्वक माता के दर्शन करना चाहता था ऐसे पुत्र को देखकर माता चन्द्रमती के स्तनों से अत्यधिक दूध झरने लगा। वह निकट बैठे हुए पुत्र का मस्तक सूंघ कर बहुत भारी हर्ष को प्राप्त हुई।।७३।।

कुलवती स्त्रियों के साथ उस सती चन्द्रमती ने रत्नों के पात्र से पुत्र के मस्तक पर नवीन दूर्वा और अक्षतों का समूह निक्षिप्त कर यह आशीर्वाद दिया कि तू हाथ में धारण की हुई तलवार से शत्रुसमूह को नष्ट करता हुआ दीर्घ काल तक समस्त पृथिवी की रक्षा कर।।७४।।

अपनी स्त्री के दुराचार की चिन्ता के भार से जिसका मुखकमल मुरझा रहा था ऐसा राजा यशोधर लम्बी तथा गर्म-गर्म सांस लेकर जब बैठ गया तब चन्द्रमती, अहंकारी शत्रुओं के नाश से प्राप्त विजयलक्ष्मी के द्वारा जिसे कीर्तिरूपी पताका दी गयी थी ऐसे अपने उस इकलौते पुत्र से मोहवश इस प्रकार के वचन बोली।।७५।।

इस प्रकार श्रीमद्वादिराजसूरि विरचित यशोधरचरित नामक महाकाव्य में दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

* तृतीयः सर्गः *

स्वागताच्छन्दः

अद्वितीयभुजविक्रम तुभ्यं शत्रवस्तनय न प्रभवन्ति ।
निःसपत्नमपि राज्यमिदं ते [1]क्षारवारिपरिधि वसुधायाम् ।।१।।

अर्थिलोकजलदैरनुवेलं गृह्यते यदपि संस्तुतिगर्जैः ।
अक्षयस्तदपि [2]तावतिथस्ते वस्तुकोशनिवहार्णव एषः ।।२।।

पीवरस्तनभरोद्धृतहाराः स्मेरचारुवदनाश्च तरुण्यः ।
सन्ति [3]कन्तुरसिकस्य [4]रिरंसोः स्निग्धदीर्घपरिमुग्धदृशस्ते ।।३।।

हृद्यवाद्यमृदुमेदुरनादैर्गायिकाजनमनोहरगीतैः ।
नर्तकीसरसनर्तनकेलीलीलया वससि चान्यविनोदैः ।।४।।

प्रौढसाधुवचनैर्निगमकैः षट्तर्कषण्मुखबुधैर्दृढवादैः ।
त्वं विनोदसुखमृच्छसि गोष्ठ्यां वस्तुवर्णकविताचतुरश्रैः ।।५।।

ग्रन्थसंगतनिबन्धनदक्षा रूढकर्मविधयो दृढभक्त्या ।
चिन्तयन्ति भिषजस्तव कायं दुष्टवैद्यगजकेसरिणस्ते ।।६।।

सावलेपकविवेचनशक्तैः सूक्तिसारसरलामृतवाग्भिः ।
त्वं विनोदसुखमृच्छसि गोष्ठ्यां वस्तुवर्णकविताचतुरश्रैः ।।७।।

सर्वलोकविदिताखिलवादैस्तर्कशास्त्रकलया गुरुरूपैः ।
प्रौढसारवचनामृतसारैर्वादिभिस्त्वमनिशं सुखमेषि ।।८।।

१. क्षारवारिधिः लवणसमुद्रः परिधिर्यस्यास्तस्याम् २. तावत्प्रमाणः ३. कामरसिकस्य
४. रन्तुमिच्छोः

❋ तृतीय सर्ग ❋

जिसकी भुजाओं का पराक्रम अद्वितीय है ऐसे हे मेरे लाल! शत्रु तुझ पर अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते। समुद्रान्त पृथिवी पर यह तेरा राज्य भी शत्रुरहित है।।१।।

तुम्हारा यह खजाना रूपी सागर यद्यपि स्तुतिरूप गर्जना से युक्त याचक रूपी मेघों के द्वारा प्रतिसमय ग्रहण किया जाता है तो भी यह अविनाशी है तथा उतना ही है।।२।।

काम के रसिक तथा रमण करने के इच्छुक तुम्हारे पास ऐसी तरुण स्त्रियाँ हैं जिनके स्थूल स्तनों पर हार धारण किया गया है, जिनके मुख मन्द-मन्द मुस्कान से सुन्दर हैं और जिनके नेत्र स्निग्ध, दीर्घ और सरल हैं।।३।।

मनोहर वादित्रों के कोमल किन्तु जोरदार शब्दों, गायिकाजनों के मनोहारी गीतों, नृत्यकारिणी स्त्रियों की सरस नृत्य क्रीड़ा की लीला तथा अन्य विनोदों के साथ तुम रहते हो।।४।।

तुम गोष्ठी में प्रौढ़ साधुओं के युक्तियुक्त वचनों, षड्दर्शन के प्रकाण्ड विद्वानों, सुदृढ़ शास्त्रार्थों तथा वस्तु तत्त्व का वर्णन करने वाले चतुर कवियों के द्वारा विनोद सुख को प्राप्त होते हो।।५।।

जो ग्रन्थानुसार निदान करने में निपुण हैं, जिनकी क्रियाप्रणाली प्रसिद्ध है, तथा जो दुष्ट वैद्यरूपी सिंहों को नष्ट करने के लिये सिंह समान हैं ऐसे वैद्य बड़ी भक्ति से तुम्हारे शरीर की चिन्ता करते हैं - सदा देखभाल रखते हैं।।६।।

तुम गोष्ठी में गर्व सहित विवेचन करने में समर्थ तथा वस्तुस्वरूप का वर्णन करने वाली कविता में चतुर कवियों के द्वारा उनके श्रेष्ठ सूक्तियों से परिपूर्ण सरल अमृतरूप वचनों से विनोद सुख को प्राप्त होते हो।।७।।

जिनके शास्त्रार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं, जो तर्कशास्त्र की कला के द्वारा कार्तिकेय की तुलना करते हैं, और जो प्रौढ़ तथा सारभूत वचनामृत से श्रेष्ठ हैं ऐसे वादियों के द्वारा तुम निरन्तर सुख को प्राप्त होते हो।।८।।

तत्किमङ्ग वदनाम्बुरुहे ते म्लानभावमवलोक्य दिनादौ।
मुक्तहर्षमधुना मम वत्स क्षारदग्धमिव सीदति चेतः।।९।।

इत्युवाच जननीमथ राजा देवराजसदृशो विभवेन।
आशिषा चिरमृतंभरया[1] ते सर्वमेव मम देवि सुभद्रम्।।१०।।

किं तु कान्तिरवमुच्य मृगाङ्कं बिभ्रतं कुवलयोर्जितलक्ष्मीम्।
व्यक्तमद्य तु मया निशि दृष्टा देवि संगमकरी तिमिरेण।।११।।

तादृशं तु सकृदप्युपलब्धं जन्मनीह न मया स्वपतापि।
तत्पुनर्मनसि कीलितमुच्चैर्दुःसहं वितनुते मम दुःखम्।।१२।।

तस्य तत्तु वचनं निजनारीदुश्चरित्रपिशुनं क्षितिभर्तुः।
स्वप्नमेव परिभाव्य विमूढा संभ्रमादिदमवोचत माता।।१३।।

अत्र वत्स वितनु प्रतिकारं स्वप्नदर्शनमिदं खलु दुष्टम्।
चण्डिका सपदि पूजयितव्या सा हि विघ्नशमनी परितुष्टा।।१४।।

[2]आविकं तनय घातय सद्यस्तद्गृहे तव भुजासिमुखेन।
सा तु तेन बलिना परितृप्ता स्वप्नदोषमचिरेण निहन्ति।।१५।।

इत्यवोचत नृपस्तु पिधाय श्रोत्ररन्ध्रयुगलं स कृपालुः।
देवि किं पुनरिदं तव युक्तं वक्तुमित्थमविचारमधर्म्यम्।।१६।।

मानवस्य खलु जीवितमद्य[3]श्वीनमस्य तु कृते तनुघाते।
दुःखमात्मनि सुदुर्धरमौर्ध्वदैहिकं[4] कथमिवोपनयेयम्।।१७।।

१. सत्यरूपया २. मेषं ३. अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीनम् ४. मरणोत्तरकालोद्भवम्।

फिर प्रातःकाल के समय तुम्हारे मुखकमल पर म्लानता क्यों है? बेटा! इस समय तुम्हारे म्लान भाव को देखकर मेरा हृदय हर्षरहित होकर क्षार से जले हुए के समान दुखी हो रहा है।।९।।

तदनन्तर वैभव के द्वारा इन्द्र की तुलना करने वाले राजा यशोधर ने माता से इस प्रकार कहा कि हे देवि! तुम्हारे अमृतमय आशीर्वाद से मेरा सभी कुछ कल्याणरूप है।।१०।।

किन्तु हे देवि! आज रात्रि में मैंने स्पष्ट देखा है कि भूमण्डल में सर्वश्रेष्ट लक्ष्मी को धारण करने वाले चन्द्रमा को छोड़कर कान्ति अन्धकार के साथ संगम कर रही है।।११।।

मैंने इस जन्म में सोते हुए भी एक बार भी वैसा प्रसङ्ग नहीं देखा है। वह दृश्य मेरे मन में कीलित होकर बहुत भारी दुःख को विस्तृत कर रहा है।।१२।।

अपनी स्त्री के दुश्चरित्र को सूचित करने वाले राजा के उस वचन को स्वप्नमात्र ही समझ कर अज्ञानी माता संभ्रम से यह वचन बोली।।१३।।

"बेटा! इसका प्रतिकार करो, यह स्वप्नदर्शन सचमुच ही दुष्ट है, शीघ्र ही चण्डिका की पूजा करनी चाहिए क्योंकि वह संतुष्ट होने पर विघ्न को शान्त करने वाली है।।१४।।"

"तुम उस चण्डिका के मन्दिर में अपने हाथ की तलवार के अग्रभाग से शीघ्र ही भेड़ का घात करो। उस बलि से वह सन्तुष्ट हो कर शीघ्र ही स्वप्न के दोष को नष्ट कर देगी।।१५।।"

माता ने यह कहा परन्तु दयालु राजा ने दोनों कानों के छिद्रों को ढक कर कहा कि हे देवि! तुम्हें इस प्रकार के विचारशून्य तथा अधर्मयुक्त वचन कहना उचित नहीं है।।१६।।

"निश्चय से मनुष्य का जीवन आज कल का है, इसके लिये किसी जीव के शरीर का घात करने से आत्मा में मरणोत्तरकालिक बहुत भारी दुःख होता है उसे मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ?।।१७।।"

[1]प्रत्ययस्तु सुदृढो जिनधर्मे मत्कुलक्रमभुवां हि नृपाणाम्।
तत्र हिंसनमतीव हि निन्द्यं नारकादिभवदुःखनिमित्तम्।।१८।।

पुत्रवत्सलतया पुनरेवं देवि मा स्म वचनं मयि वादीः।
इत्यनेन वचनेन सकोपा जननी तस्य पुनरभ्यवादीत्।।१९।।

अस्तु मद्वचनलङ्घनमेतदस्तु ते मतमहिंसनमर्घ्यम्।
अन्यथा तनय तर्पय देवीं शालिपिष्टमयकुक्कुटहत्या।।२०।।

इत्यनुक्षणमुदीरितवाचो मातुराग्रहमवेत्य स दध्यौ।
अन्यदुक्तमिदमन्यदिदानीमागतं तदिह किं करवाणि।।२१।।

मातुरुक्तमवमन्तुमयुक्तं कुत्सितस्तनुभृतामपि घातः।
हन्त केन विधिना मम चित्तं संकटे निपतितं पुनरस्मिन्।।२२।।

[2]चेतनप्रतिकृतावपि हिंसा कल्पिता भवति चेतन एव।
आस्रवो [3]यदभिसन्धिविशेषैः कर्मणामभिहितो मुनिमुख्यैः।।२३।।

इत्यनुस्मृतविवेकरसोऽपि प्रेरितः सपदि मातरि भक्त्या।
अम्बया सह महीपतिरुच्चैश्चण्डिकागृहमयान्नयहीनः।।२४।।

अष्टमीदिवसमङ्गलवारे [4]शुद्धभाजि सुतरामिषमासे।
त्रिःप्रदक्षिणकृतो नरनाथश्चण्डिकामनमदानतमौलिः।।२५।।

तत्र कृत्रिममसौ [5]कृकवाकुं चित्रसौष्ठवनिवासितदेवम्।
देवि तृप्य बलिरेष तवेति [6]व्याजघान निजखड्गमुखेन।।२६।।

१. विश्वासः २. चेतनस्य मृतौ अपि ३. अभिप्रायविशेषैः ४. शुक्लपक्षीयैः ५. कुक्कुटं
६. मारयामास

"हमारी कुल-परम्परा में होने वाले राजाओं का जिनधर्म में सुदृढ़ विश्वास है। उस जिनधर्म में हिंसा अत्यन्त निन्दनीय तथा नरकादि गतियों के दुःख का कारण कही गयी है।।१८।।"

"हे देवि! पुत्रस्नेह के कारण मेरे विषय में ऐसे वचन फिर न कहें।" राजा के इस वचन से कुपित होती हुई चन्द्रमती पुनः बोली।।१९।।

"अच्छा, मेरे वचन का उल्लङ्घन हो जाओ और तुम्हारा यह मत कि अहिंसा धर्म ही पूज्य है वह भी रहा आवे, तुम अन्य प्रकार से अर्थात् धान्य के चूर्ण से निर्मित मुर्गे की हिंसा के द्वारा देवी को संतुष्ट कर लो।।२०।।"

इस प्रकार के वचन प्रतिसमय कहने वाली माता का आग्रह जान कर वह विचार करने लगा कि मैंने कहा तो कुछ अन्य था और इस समय यह अन्य कुछ आ पड़ा है, अब मैं क्या करूँ?।।२१।।

माता का वचन अस्वीकृत करना अयुक्त है और जीवों का घात करना भी निन्दनीय है, खेद की बात है कि किस कर्म से मेरा चित्त इस संकट में आ पड़ा है।।२२।।

चेतन की मूर्ति का घात करना भी चेतन का ही घात है क्योंकि श्रेष्ठ मुनियों ने कर्मों का आस्रव अभिप्राय विशेष ही कहा है।।२३।।

इस प्रकार बार-बार विवेक रस का स्मरण करने पर भी वह नयहीन राजा मातृभक्ति से शीघ्र ही प्रेरित होता हुआ माता के साथ चण्डिका के उच्चतम मन्दिर को गया।।२४।।

कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष सम्बन्धी अष्टमी तिथि मंगलवार के दिन राजा यशोधर ने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा मस्तक झुका कर चण्डिका को नमस्कार किया।।२५।।

वहाँ चित्र की कुशलता से जिसमें दैव का आरोप किया गया था ऐसे कृत्रिम मुर्गे को उसने अपनी तलवार के अग्रभाग से यह कह कर मारा कि हे देवि! संतुष्ट होओ, तुम्हारे लिये यह बलि अर्पित है।।२६।।

किञ्चिदन्तरमुदीरितनादं लूनमस्तकमवेक्ष्य पतन्तम्।
खड्गमुष्टिमवमुच्य शुशोच क्लेशकृत्खलु सतामविवेकः।।२७।।

हा हतोऽस्मि सुदृशामृतमत्या हा हतोऽस्मि विनयेन जनन्याः।
हा गतोऽस्मि नरके चिरवासं हा गतोऽस्मि भवबन्धमजय्यम्।।२८।।

कृत्रिमः क्व पुनरेष पतत्री क्वासिघातपरिदेवनशब्दः।
हन्त दुर्गतिवधूरमुना मां छद्मना नियतमाह्वयतीव।।२९।।

भावयन्निति परिप्लुतनेत्रो राजमन्दिरमवाप्य नरेन्द्रः।
भोगनिःस्पृहमतिर्निजपुत्रे निर्मुमोच पृथिवीपतिलक्ष्मीम्।।३०।।

तं तपस्यभिमुखं नरपालं बन्धकी[1] वचनमेतदवोचत्।
आर्यपुत्र परिहृत्य भवन्तं कः पुनर्मम गृहे परितोषः।।३१।।

अद्य ते सुतवरं नवराजं स्थापयन्नृप यशोमतिमुर्व्याम्।
मद्गृहेऽमृतमवाश्य[2] वनान्तं गन्तुमर्हसि मया सह पश्चात्।।३२।।

अन्तरङ्गमवयन्नपि तस्याः सद्म भोक्तुमगमत् स जनन्या।
देहिनामुपगते हि विनाशे दुर्नयोऽपि सुनयः प्रतिभाति।।३३।।

तावुभावपि तयोपनिबद्धैर्मोदकैर्विषमयैर्मधुदिग्धैः।
[3]जीवितात्ययमवापतुरार्तध्यायिनौ रुचिवशादतिजग्धैः।।३४।।

विन्ध्यनामनि गिरौ स मयूरीगर्भवासमगमन्नरपालः।
पालयन्त्यपसृतं पुनरण्डं कण्टकेन[4] शिखिनी[5] विनिजघ्ने।।३५।।

१. कुलटा अमृतमती राज्ञी २. भुक्त्वा ३. मरणम् ४. बाणेन
५. मयूरी

जो भीतर ही भीतर मानों कुछ शब्द कर रहा था तथा जिसका मस्तक कट चुका था ऐसे गिरते हुए मुर्गे को देख कर वह तलवार की मूठ छोड़ शोक करने लगा। ठीक ही है क्योंकि सचमुच ही अविवेक सत्पुरुषों को क्लेश करने वाला होता है।।२७।।

हाय-हाय! मैं अमृतमती स्त्री के द्वारा मारा गया। हाय-हाय! मैं माता की विनय से मारा गया। हाय-हाय! मैं चिरकाल तक नरक में निवास को प्राप्त हो गया। हाय-हाय! मैं जो जीता न जा सके ऐसे भवबन्ध को प्राप्त हो गया।।२८।।

कहाँ यह कृत्रिम पक्षी और कहाँ वह तलवार के घात से रोने का शब्द? खेद है कि यह दुर्गति रूपी वधू इस छल से मानों निश्चित ही मुझे बुला रही है।।२९।।

जो इस प्रकार विचार कर रहा था, जिसके नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण थे तथा जिसकी बुद्धि भोगों से निःस्पृह थी ऐसे राजा यशोधर ने राजमहल में आकर अपने पुत्र के लिये राज्यलक्ष्मी सौंप दी।।३०।।

तप के सन्मुख राजा यशोधर से कुलटा अमृतमती यह वचन बोली कि हे आर्यपुत्र! आपको छोड़कर मुझे घर में संतोष क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं है।।३१।।

आज आप अपने श्रेष्ठ पुत्र नवीन राजा यशोमति को पृथिवी पर स्थापित कर रहे हैं इसलिये मेरे घर में अमृतमय भोजन कर पश्चात् मेरे साथ वन जाने के योग्य हैं।।३२।।

राजा यशोधर उसके अन्तरङ्ग को जानते हुए भी माता के साथ उसके घर भोजन करने के लिये चले गये।।३३।।

माता और पुत्र दोनों ही उसके द्वारा बनाये हुए उन विषमय लड्डुओं से जो मधु से लिप्त थे तथा रुचिवश अधिक खाये गये थे, आर्त्तध्यान करते हुए मरण को प्राप्त हो गये।।३४।।

राजा यशोधर विन्ध्याचल पर एक मयूरी के गर्भ में निवास को प्राप्त हुआ। वह मयूरी जब निकले हुए अण्डे का पालन कर रही थी तब बाण के द्वारा मारी गयी।।३५।।

लुब्धकस्तु कृपयोद्धृतमण्डं वर्धयेति स दिदेश पुलिन्द्यै।
वर्धितः स च तया पुनरासीन्नृत्यवर्तुलितरम्यकलापः॥३६॥

चन्द्रमत्यपि मृता करहाटे कुक्कुरः पुरवरे परिजज्ञे।
आसदत्पुनरुपायनभूतौ तावुभावपि यशोमतिभूपः॥३७॥

यत्र तौ सकलभूतलराज्यं दीर्घमन्वभवतां जनदृष्टौ।
तत्र विट्कृमिकुलाशनकष्टं दुर्जयो जगति कर्मविपाकः॥३८॥

एकदा तु स निरीक्ष्य निजस्त्रीं जारभोगसहितां निजहर्म्ये।
जारचक्षुरुदितस्मृतिरुष्टश्चञ्चुवृक्ण[1]मकरोदथ केकी[2]॥३९॥

मस्तके विदलितोऽमृतमत्या सव्यथः स निपपात धरित्र्याम्।
तं निगृह्य विचचर्व स तु श्वा पूर्वजन्मनि तु चन्द्रमती या॥४०॥

तं पुनः प्रियमयूरविघातं भूपतिस्तु नितरामसहिष्णुः।
[3]रात्रिजागरममारयदुच्चैरक्षदेवनकृता फलकेन॥४१॥

तौ पुनर्नरपतिर्विगतासू[4] वीक्ष्य शोकमधिकं प्रतिभेजे।
क्षुद्रतां न गणयन्ति महान्तस्त्वाश्रितेषु हि कृपाबहुलत्वात्॥४२॥

कानने पृथुनि विन्ध्यसमीपे हस्तिसिंहशरभादिनिवासे।
तीक्ष्णकण्टकशिखः शललोऽभूज्जीवितात्ययगतः [5]शितिकण्ठः॥४३॥

सोऽपि कृष्णभुजगोऽजनि तस्मिञ्जीवितस्य विलये [6]मृगदंशः।
तं कदाचिदवहत्य जघान प्राच्यवैरकुपितः शललोऽसौ॥४४॥

१. बर्हिणम् २. मयूरः ३. कुक्कुरम् ४. निष्प्राणौ मृतावित्यर्थः ५. मयूरः
६. तरक्षुः

भील ने उस निकले हुए अण्डे को दयावश 'इसे बढ़ाओ' यह कहकर भीलनी के लिये दे दिया। भीलनी के द्वारा बढ़ाया हुआ वह अण्डा सुन्दर पिच्छिओं को नृत्य के द्वारा गोल करने वाला मयूर हो गया।।३६।।

माता चन्द्रमती भी मर कर करहाट नगर में कुत्ता हुई। भाग्यवश वह मयूर और कुत्ता दोनों ही यशोमति राजा को भेंट में प्राप्त हुए।।३७।।

जिस घर में वे दोनों - राजा यशोधर और चन्द्रमती माता, समस्त पृथिवी तल के विशाल राज्य का उपभोग करते थे तथा लोग उन्हें प्रेम से देखते थे उसी घर में वे अब विष्टा के कीटसमूह के कष्टमय भोजन का उपभोग करते थे। ठीक ही है क्योंकि संसार में कर्म का विपाक दुर्ज्ञेय है।।३८।।

तदनन्तर एक दिन उस मयूर ने अपने महल में अपनी स्त्री को जार के साथ उपभोग करते देखा। पूर्वभव के स्मरण से उसे क्रोध आ गया और उसने चोंच से जार की आँख फोड़ दी।।३९।।

अमृतमती ने उस मयूर के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया जिससे वह पीड़ा सहित पृथिवी पर गिर पड़ा। पृथिवी पर पड़े हुए उस घायल मयूर को उस कुत्ते ने झपट कर खा लिया जो पूर्वजन्म में चन्द्रमती था।।४०।।

राजा यशोमति को उस प्रिय मयूर का विघात बिल्कुल ही सहन नहीं हुआ इसलिये उसने पासा खेलने के एक बड़े पटिया से उस कुत्ते को मार डाला।।४१।।

मयूर और कुत्ता दोनों को मरा देख राजा अधिक शोक को प्राप्त हुआ। ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुष दयालु होने के कारण आश्रित जनों पर किये गये क्षुद्रता-हीन व्यवहार को सहन नहीं करते हैं।।४२।।

विन्ध्याचल के समीप एक बड़ा वन है जिसमें हाथी, सिंह तथा शरभ-अष्टापद आदि निवास करते हैं; उसी वन में वह मयूर मर कर तीक्ष्ण कांटों के अग्रभाग से युक्त सेही हुआ।।४३।।

और वह कुत्ता भी मरकर उसी वन में काला साँप हुआ। पूर्व वैर से कुपित सेही ने किसी समय उस साँप को पकड़ कर मार डाला।।४४।।

तं च कृष्णभुजगाशनतृप्तं गन्तुमिच्छुमथ शल्यकमुग्रम्।
सत्वरं तु परिवृत्य जघान क्षुत्प्रवेशविकृतश्च तरक्षुः॥४५॥

शल्यकः पुनरभूदधिशिप्रं लोहिताक्ष इति मत्स्यविशेषः।
तीव्रकृष्णभुजगश्च बभूव क्रूरकर्मरसिकः शिशुमारः॥४६॥

तं तु मीनमवहन्तुमरातिं पृष्ठतोऽतिजवतः परिधावन्।
सोऽन्तरा जलगतां नृपकुब्जीं प्रत्यवाप्य विलवासमनैषीत्॥४७॥

ईर्ष्यया स पुनरुज्जयिनीशो धीवरैर्जलविलादवकृष्टम्।
ग्राहवीरमथ घातयति स्म च्छेदभेदपरिदाहविकल्पैः॥४८॥

मृत्युना कवलितोऽजनि सोऽजा तत्पुरान्तरजनंगमवाटे[1]।
कर्मकोद्रवरसेन हि मत्तः किं किमेत्यशुचिधाम न जीवः॥४९॥

[2]लोहिताक्षमपि जालगृहीतं निन्युरन्तिकचरा नरनाथम्।
तं विभज्य तु यशोमतिरुच्चैः श्राद्धकार्यमवदत्कुरुतेति॥५०॥

तस्य मांसमवखाद्य च विप्रा आशिषा दिवि यशोधरमूचुः।
नन्विहास्ति शफरः क्व पुनर्द्यौरित्यमन्यत स खण्डितमत्स्यः॥५१॥

तं च मीनमतनुं[3] वहति स्म सैव [4]वस्तकमजा निजगर्भे।
यस्तृतीयजननेऽजनि तीव्रो नीलनीरदविभो भुजगेन्द्रः॥५२॥

गर्भवासमपहाय स वस्तस्तारयौवनसमन्वितकायः।
अभ्यरंस्त निजयैव जनन्या कातरःस्मरशरग्लपिताङ्गः॥५३॥

१. चाण्डालवाटे २. माहिष ३. मृतम् ४. वर्करम्

काले साँप को खा कर तृप्त हुआ वह सेही जाना ही चाहता था कि एक भूखे भेड़िये ने उसे घेर कर मार डाला।।४५।।

पश्चात् वह सेही शिप्रा नदी में लोहिताक्ष नामका एक विशेष मच्छ हुआ और क्रूरकर्म का रस भोगने वाला वह काला साँप उसी शिप्रा नदी में शिशुमार नामका जलजन्तु हुआ।।४६।।

वह शिशुमार अपने शत्रुभूत लोहिताक्ष मच्छ को मारने के लिये उसके पीछे-पीछे बड़े वेग से दौड़ रहा था कि बीच में जल में घुसी हुई राजा की कुब्जी नामक दासी को पाकर उसे वह अपने बिल में ले गया।।४७।।

तदनन्तर उज्जयिनी के राजा यशोमति ने ईर्ष्या से उस बलिष्ठ शिशुमार को धीवरों द्वारा पानी के बिल से बाहर निकलवा कर छेदन-भेदन तथा जलाना आदि उपायों से मार डाला।।४८।।

मृत्यु के द्वारा ग्रसा हुआ वह शिशुमार उसी नगर के मध्य चाण्डालों की वसति में बकरी हुआ। ठीक ही है क्योंकि कर्मरूपी रस से मत्त हुआ जीव किस-किस अशुचि स्थान को प्राप्त नहीं होता।।४९।।

सेवक लोग उस लोहिताक्ष मत्स्य को भी जाल द्वारा पकड़ कर यशोमति राजा के पास ले गये तो उसने कहा कि इसे काट कर 'शानदार श्राद्धकार्य करो'।।५०।।

उसका मांस खाकर ब्राह्मणों ने स्वर्ग में विद्यमान राजा यशोधर को आशीर्वाद कहा। काटा गया वह मच्छ मन में कहने लगा कि मैं तो यहाँ मच्छ हूँ, स्वर्ग कहाँ है? ।।५१।।

शिशुमार का जीव जो चाण्डालों की वसति में बकरी हुआ था उसी ने उस मृत लोहिताक्ष मत्स्य को बकरे के रूप में अपने गर्भ में धारण किया जो तीसरे जन्म में नील मेघ के समान भयंकर साँप हुआ था।।५२।।

गर्भवास को छोड़कर उत्पन्न होकर जब वह बकरा प्रौढ़ यौवन से युक्त शरीर वाला हुआ तब वह कायर, काम के बाणों से पीड़ित शरीर होता हुआ अपनी माता के ही साथ रमण करने लगा।।५३।।

तं तया रतिकृतं पुनरन्यो वर्करस्त्वरितमेत्य जघान।
तीक्ष्णशृङ्गशिखरक्षतकुक्षिः कोपसंक्रमकषायितचक्षुः।।५४।।

स्वान्त्यधातुरसवाहि स तस्या गर्भधाम पुनरप्यधिशिश्ये।
तस्य कुक्षिविवरे परिवृद्धिर्भारिणी चिरमभूदनजर्याः।।५५।।

भूपतिस्तु मृगयामधिगत्य दुर्मनाः स विपिनादपगच्छन्।
एकवारमविचारमविध्यत्तामजस्त्रियमुदस्त्रमुखेन।।५६।।

अस्त्रवेधविवरच्युतमुच्चैश्छागशावमवलोक्य कृपालुः।
भूपतिः [1]श्वपचमेवमवोचद्वर्धयैनमिति सोऽप्यववर्धत्।।५७।।

अन्यदा महिषबल्युपहारं भूपतिः प्रतिनिवेद्य भवान्याः।
निर्जिहिंस सवयःपरिवारः स्वेच्छया वनगतो मृगयूथम्।।५८।।

तन्मृगव्यपरितोषविवृद्ध्या चण्डिकां महिषघातमयाक्षीत्।
[2]माहिषं तु पिशितं द्विजतृप्त्यै कर्मिणो [3]रसवतीं परिणिन्युः।।५९।।

आतपे प्रविततं तदवेक्ष्य शोषणार्थमवदन्निति विप्राः।
श्राद्धकर्मणि न योग्यमिदं यत्काककुक्कुरगृहीतमपूतम्।।६०।।

किं तु वस्तमुखचुम्बितमेतत्सर्वतः सपदि शुध्यति मांसम्।
एवमेव खलु धर्मविचारे नारदादिमुनयः प्रवदन्ति।।६१।।

१. चाण्डालम्   २. महिषस्येदं माहिषम्   ३. पाकशालाम्

जिस समय बकरा अपनी माता के साथ रति कर रहा था उसी समय दूसरे बकरे ने शीघ्रता से आकर उसे मार डाला। उसके पैने सींगों के अग्रभाग से उसका पेट विदीर्ण हो गया तथा क्रोध से नेत्र लाल हो गये।।५४।।

मरकर वह अपने ही वीर्य रस को धारण करने वाले उस बकरी के गर्भस्थान को पुनः प्राप्त हुआ अर्थात् अपने ही वीर्य से अपनी ही माता के गर्भ में पुनः बकरा हुआ। बकरी की कुक्षि में उस बकरे की वृद्धि होती रही जिससे उसका गर्भ बहुत भारी हो गया।।५५।।

एक बार राजा यशोमति शिकार के लिये गया; वह खिन्न मन होकर जब वन से लौट रहा था तब उसने विचार बिना ही उस गर्भवती बकरी को तीक्ष्ण शस्त्र के अग्रभाग से मार डाला।।५६।।

शस्त्रप्रहार के छिद्र से जब गर्भस्थित बकरा नीचे गिरा तो उस शिशु को देखकर राजा को दया आ गयी। उसने चाण्डाल से कहा कि इसे बढ़ाओ - इसका पालन-पोषण करो और चाण्डाल ने भी उसे बढ़ाया - पालन-पोषण करके बड़ा कर दिया।।५७।।

एक बार राजा यशोमति यह संकल्प कर कि यदि शिकार अच्छी हुई तो चण्डमारी देवी के लिये भैंसे की बलि चढ़ाऊँगा, शिकार के लिये गया। वहाँ उसने समवयस्क लोगों के साथ वन में जाकर इच्छानुसार बहुत मृगसमूह को मारा।।५८।।

शिकार विषयक संतोष की वृद्धि होने से उसने भैंसा मार कर चण्डमारी देवी की पूजा की। सेवक लोग उस भैंसे के मांस को ब्राह्मणों की तृप्ति के लिये पाकशाला में ले गये।।५९।।

सुखाने के लिये धूप में फैलाये हुए उस मांस को देख कर ब्राह्मणों ने कहा कि यह मांस श्राद्ध कार्य के योग्य नहीं है क्योंकि काक और कुत्तों के द्वारा ग्रहण कर अपवित्र कर दिया गया है।।६०।।

किन्तु यह मांस यदि बकरे के मुख से स्पृष्ट हो जावे तो सब ओर से शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। ऐसा ही धर्म के विचार में नारद आदि मुनि कहते हैं।।६१।।

तद्वचांसि परिभाव्य स राजा तं [1]जनंगमगृहादजपोतम्।
आनिनाय परिशुद्धमति तस्मिन्सूपकृत्सरसमांसमपाक्षीत्।।६२।।

तद्यथेष्टमवखाद्य सहान्नं ब्राह्मणा वचनमित्थमवोचन्।
स्वर्गतस्तु सुचिरं सह मात्रा तृप्तिमृच्छति यशोधरभूपः।।६३।।

विप्रवाचमवधार्य स सततश्चेतसीदमकृत [2]स्मृतजातिः।
सोऽहमस्मि हि यशोधरनामा पुत्र एष मम भूपतिरास्ते।।६४।।

एष मे परिजनः सकलोऽपि मन्निवासपुरमुज्जयिनीयम्।
रत्नमन्दिरमिदं मम देवी यत्र मामिह जघान विषेण।।६५।।

सा पुनः क्व वनिता न मयासौ दृश्यते मनसि यत्नवतापि।
जारमन्दिरगता रमते नु मृत्युवासमगमन्नु न जाने।।६६।।

छागजन्मनि वसन्नहमद्य घोरदुःखमिह सोऽनुभवामि।
एष घोषयति मां तु दिविस्थं[3] ब्राह्मणैर्नरपतिः पितृभक्त्या।।६७।।

इत्यनुस्मृतिसहस्रनिबद्धं दुःखमुद्वहति बर्करवर्ये।
सापि तस्य जनिकाधिकलङ्कामुद्बभूव विषमो हि [4]लुलापः।।६८।।

वाहयन्नतिभरावहपृष्ठं तं वरिष्ठवपुषं वणिगीशः।
उज्जयिन्युपवने निजसार्थं वर्त्मखिन्नमथ वासयति स्म।।६९।।

भूरिवारमवगाह्य तु शिप्रां सैरिभः[5] श्रमभराद्विचरन् सः।
वारिमुक्तमवधीत्तुरगेन्द्रं राजहंसमवनीपतिवाह्यम्।।७०।।

१. चाण्डालगृहात् २. जातिस्मरणसहितः ३. स्वर्गस्थम् ४. महिषः ५ महिषः

ब्राह्मणों के वचनों का विचार कर राजा ने चाण्डाल के घर से बकरे के उस बच्चे को बुलवाया। उसने आकर जब उस भैंसे के मांस को शुद्ध कर दिया तब रसोइये ने उस स्वादिष्ट मांस को पकाया।।६२।।

अन्न के साथ भैंसे के उस मांस को इच्छानुसार खा कर ब्राह्मणों ने इस प्रकार का वचन कहा कि स्वर्ग में स्थित राजा यशोधर अपनी माता के साथ चिरकाल तक तृप्ति को प्राप्त होंगे।।६३।।

ब्राह्मणों के वचन समझ कर उस बकरे को पूर्वभव का स्मरण हो गया जिससे वह मन में विचार करने लगा कि यह मैं वही यशोधर राजा हूँ और यह यशोमति राजा मेरा पुत्र है।।६४।।

यह सब मेरा परिजन है, यह मेरे रहने का नगर उज्जयिनी है, और यह मेरा रत्नमहल है जहाँ रानी ने विष के द्वारा मुझे मारा था।।६५।।

परन्तु वह स्त्री कहाँ है? मन में यत्न करने पर भी वह दिख नहीं रही है। क्या जार के घर जाकर रमण करती है या मृत्युवास को प्राप्त हो गयी है? मैं नहीं जान रहा हूँ।।६६।।

बकरे के जन्म में निवास करता हुआ मैं आज यहाँ घोर दुःख भोग रहा हूँ परन्तु यह राजा पितृभक्ति से ब्राह्मणों के द्वारा स्वर्ग में बतलाता है।।६७।।

इस प्रकार वह उत्तम बकरा जब भूतकाल के हजारों संस्मरणों के साथ दुःख भोग रहा था तब उसकी वह माता भी कलिङ्ग देश में एक भयंकर भैंसा हुई।।६८।।

जिसकी पीठ पर बहुत भारी भार लदा हुआ है तथा जिसका शरीर अत्यन्त श्रेष्ठ है ऐसे उस भैंसे को चलाता हुआ एक सार्थवाह - प्रमुख बनजारा उज्जयिनी के उपवन में आया, वहाँ उसने मार्ग के खेद से युक्त अपने संघ को ठहरा दिया था।।६९।।

वह भैंसा थकावट की अधिकता से गहरे पानी वाली शिप्रा नदी में घुस कर विचरण कर रहा था। उसी समय उसने पानी में छोड़े हुए राजा की सवारी के राजहंस नामक घोड़े को मार डाला।।७०।।

कोपतो नरपतिर्वणिजः स्वं सारभूतमवलुप्य समस्तम्।
तं भुलायमहरत्तरसा वै चित्रकर्मविधिना विजिघांसुः।।७१।।

कीलितेषु चरणेषु चतुर्षु क्षारवारिपरिशोषितकुक्षिम्।
ऊर्ध्वजानुमदहन्नृपभृत्यास्ते कृपाविरहिणो महिषं तम्।।७२।।

पक्वभागमवकृत्य पुरस्ताद्दत्तमाशु परिखाद्य तदीयम्।
इत्यवोचत यशोमतिमाता नास्त्यनेन मम चेतसि तृप्तिः।।७३।।

किं तु मे रसवतीविधृतस्य वस्तकस्य परिखण्डितमूरुम्।
यच्छतेति मनुजाः पुनरेवं चक्रुरेवमवदन्नपि चेट्यः।।७४।।

पूतिगन्धि बहुभिर्व्रणरन्ध्रैः क्लिन्नमङ्गमधुनामृतमत्याः।
किंनिमित्तमथवेयमजस्रं मांसमत्ति नितरां तदपथ्यम्।।७५।।

कर्म दुष्टमनया कृतमुच्चैस्तद्विपक्त्रिममिदं फलमल्पम्*।
वेद्यते पुनरिहैव हि साक्षात्कर्म तीव्रपरिणामनिबद्धम्।।७६।।

अष्टभङ्गमगमन्निशि जारं मारतुल्यमवमुच्य निजेशम्।
मृत्युलोकमनयत्सह मात्रा [1]भूमिवल्लभमियं हि विषेण।।७७।।

इत्थुपात्तवचने निकटस्थे चेटिकासदसि खण्डितवस्तः।
इत्यमन्यत निरीक्ष्य निजस्त्रीं क्रोधतो घुरुघुरायितघोणः।।७८।।

तादृशं तु कुलटे वपुरेतत्किंनिमित्तमभवत्परिशीर्णम्।
सत्यमेव स पतिस्तव कुष्ठी तत्समागमकृतेयमवस्था।।७९।।

* तद्विपाकिममिदं फलमल्पम् (पाठान्तर)

[1] राजानम्

क्रोध से राजा ने उस बनजारे का सारभूत सब धन लुटवा लिया और विचित्र विधि से घात करने की इच्छा से बलपूर्वक उस भैंसे को छीन लिया।।७१।।

राजा के निर्दय सेवकों ने उस भैंसे के चारों पैर कीलित कर दिये, उसके पेट को खारे पानी से सुखा दिया तथा खड़े-खड़े ही उसे पकाना शुरू कर दिया।।७२।।

काट कर सामने परोसे हुए उसके परिपक्व भाग को खा कर यशोमति की माता बोली कि मेरे चित्त में इससे तृप्ति नहीं है।।७३।।

किन्तु मुझे पाकशाला में बँधे हुए बकरे की जांघ काट कर दो। राजमाता के कहे अनुसार मनुष्यों ने ऐसा ही किया। यह देख दासियाँ कहने लगीं कि देखो इस समय अमृतमती का शरीर दुर्गन्धित और बहुतभारी घावों के छिद्रों से दुःखी हो रहा है, फिर यह किस कारण निरन्तर अधिक मात्रा में अहितकारी मांस खाती रहती है।।७४-७५।।

इसने बहुत दुष्ट कर्म किया है, उसी के विपाक से यह अल्प फल मिल रहा है। ठीक ही है क्योंकि तीव्र परिणामों से बाँधा हुआ कर्म इसी भव में साक्षात् भोग लिया जाता है।।७६।।

यह कामदेव के समान अपने स्वामी को छोड़ कर रात्रि में उस जार के पास गयी है जिसके आठों अङ्ग कुटिल हैं। इसने विष के द्वारा माता सहित राजा को मृत्युलोक पहुँचाया है।।७७।।

समीप में स्थित दासियों का समूह जब इस प्रकार के वचन कह रहा था तब खण्डित बकरा अपनी स्त्री को देख क्रोध से नासा को घुरघुराता हुआ यह विचार कर रहा था।।७८।।

अरी कुलटे! तेरा यह शरीर तो वैसा सुन्दर था फिर इस प्रकार सब ओर से गलित क्यों हो रहा है? सचमुच ही तुम्हारा वह पति कुष्ठी था, उसके समागम से ही यह अवस्था हुई है।।७९।।

किं विषेण मयि नोपहतेऽपि तन्वि ते मनसि शाम्यति कोपः।
कासरास्रपरिखादमतृप्ता यन्मदूरुमपि खादसि गृद्ध्या॥८०॥

इत्यनुस्मृतिकरः स च वस्तः सोऽपि दग्धमहिषश्च दिनेषु।
भक्षितौ विजहतुर्नृपमात्रा जीवितव्यमथ किं विदधाताम्॥८१॥

तौ विमुच्य तनुमार्तमनस्कौ कर्मणा बलवता ह्युपनीतौ।
तत्पुरे [1]श्वपचवेश्मनि कृच्छ्रे कुक्कुटौ सममुपाजनिषाताम्॥८२॥

अथ तौ प्रसङ्गपरिलोकितावुभा -
वुपनीय दर्शयति चण्डकर्मणि।
तनयाविव त्वमभिवर्धयादरा-
दिति तं जगाद नृपतिर्यशोमतिः॥८३॥

हरिणी

तरलनयनौ तारश्यामैः पतत्रपरिच्छदै-
र्वयसि दधतौ चूडारत्नं [2]जपाकुसुमच्छवि।
कनकनिकषच्छायाचौर्योल्लसच्चरणाङ्कुरौ
[3]सुखमवृधतां तौ तद्वासे सुपञ्जरवासितौ॥८४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

राजा सोऽपि यशोमतिः प्रविलसत्साम्राज्यलक्ष्मीपतिः
कुर्वन् काव्यबृहस्पतिप्रभृतिभिः संदर्शितं मन्त्रिभिः।
संतृप्यन्नमृतेन क्लृप्तविधिना श्रीवैद्यविद्यार्णवै-
र्व्यातन्वञ्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम्॥८५॥

इति श्रीवादिराजसूरिविरचिते यशोधरचरिते महाकाव्ये
तृतीयः सर्गः॥

१. चाण्डालगृहे   २. रक्तवर्णम्   ३. वृद्धिं प्राप्नुवन्तौ

हे तन्वि! विष के द्वारा मुझे मार देने पर भी क्या तेरे मन का क्रोध शान्त नहीं हुआ? जब मैं भैंसा हुआ तब जला कर भी खा कर तृप्त नहीं हुई और अब लम्पटतापूर्वक मेरी जांघ को भी खा रही है।।८०।।

इस प्रकार बार-बार स्मरण करने वाला वह बकरा और वह जलाया हुआ भैंसा राजमाता के द्वारा कई दिन तक खाया जाता रहा। अन्त में दोनों ने अपने प्राण छोड़े। बेचारे क्या करते?।।८१।।

बकरा और भैंसा-दोनों ही आर्तध्यान से शरीर छोड़ कर बलवान कर्म के द्वारा ले जाये जाकर उसी नगर में चाण्डाल के दुःखदायक घर में मुर्गा हुए।।८२।।

अथानन्तर किसी प्रसङ्ग पर चण्डकर्मा चाण्डाल ने वे दोनों मुर्गे ले जाकर राजा यशोमति को दिखलाये। तब उसने चण्डकर्मा से कहा कि तुम इन्हें पुत्र के समान आदर से बढ़ाओ।।८३।।

जिनके नेत्र चञ्चल थे, जो बड़े तथा श्यामल पङ्खों से सहित थे, अवस्था होने पर जपा के फूल समान कान्ति वाले चूड़ारत्न को धारण कर रहे थे, जिनके पैरों के अङ्कुर सुवर्ण की कस की कान्ति की चोरी से सुशोभित थे अर्थात् पीले रंग के थे और जो उत्तम पिंजड़े में रखे गये थे ऐसे वे दोनों मुर्गे चण्डकर्मा के घर में सुख से बढ़ने लगे।।८४।।

उधर जो शोभायमान राज्यलक्ष्मी का स्वामी था, शुक्र तथा बृहस्पति आदि मन्त्रियों के द्वारा निदर्शित कार्यों को करता था, वैद्यविद्या के सागर स्वरूप - उत्तमोत्तम वैद्यों के द्वारा निर्मित रसायन से जो सदा संतुष्ट रहता था, और युद्ध में अपनी विजयसिंहता को विस्तृत करता रहता था ऐसा राजा यशोमति भी दीर्घकाल तक पृथिवी को धारण करता रहा।।८५।।

इस प्रकार श्रीवादिराजसूरिविरचित यशोधरचरित महाकाव्य में तृतीय सर्ग पूर्ण हुआ।।३।।

❋ चतुर्थः सर्गः ❋

वंशस्थवृत्तम्

अथैकदासौ नृपतिर्मधूत्सवे[1],
वने प्रवृत्ते कुसुमावलीसखे।
मुदा तदात्मानमिवावलोकितुं,
जगाम विस्तारितहृद्यसौरभम्॥१॥

उपेयुषस्तस्य वनं मधुश्रिया,
कलक्वणत्कोकिलकण्ठनादया।
अकथ्यत स्वागतमुर्वरापते -
र्ध्रुवं [2]नवीनोद्गमशुभ्रहासया॥२॥

निकामतन्व्यः प्रसवैः सुगन्धय -
स्तदा दधानास्तनुभिः [3]प्रवालताम्।
इतस्ततो [4]जग्मुरिलापतेः स्त्रियो,
लतास्तु न स्थावरतां वितत्यजुः॥३॥

उपस्थिते पुष्पसमृद्धिविप्लवे,
भयादिवाकम्पि [5]मरुद्वशैर्द्रुमैः।
अनल्पसंवासकृतः कृतस्वना,
प्रपद्य तानन्वरुदन्निवालयः॥४॥

दुराक्रमांस्तुङ्गतया तु मानवैः
सुदूरमध्या-रुरुहुर्लतास्तरून्।
तदग्रभागे कुसुमश्रियः स्वयं
निवासरक्षामिव कर्तुमिच्छवः॥५॥

१. वसन्तोत्सवे   २. नूतनपुष्पशुक्लहासया   ३. किसलयतां, प्रकृष्टा वाला: केशाः यासां तासां भावस्ताम्   ४. पृथिवीपतेः   ५. वायुवशैः

※ चतुर्थ सर्ग ※

तदनन्तर एक समय वन में जब पुष्पसमूह से सुशोभित वसन्तोत्सव प्रवृत्त हुआ तब अपने ही समान मनोहर सुगन्ध को विस्तृत करने वाले (पक्ष में हृदय को प्रिय लगने वाली मनोज्ञता को विस्तृत करने वाले) उस वसन्तोत्सव को देखने के लिये राजा यशोमति अपनी कुसुमावली नामक स्त्री के साथ हर्ष से वन में गया।।१।।

मनोहर शब्द करती हुई कोकिल ही जिसका कण्ठस्वर है तथा नवीन विकसित पुष्प ही जिसका शुक्ल हास है, ऐसी वसन्त लक्ष्मी ने वन के समीप आये हुए राजा से मानों 'स्वागतम्' ही कहा था।।२।।

उस समय राजा की स्त्रियाँ और लताएँ एक समान थीं क्योंकि जिस प्रकार राजा की स्त्रियाँ अत्यन्त कृश थीं उसी प्रकार लताएँ भी अत्यन्त कृश थीं। जिस प्रकार राजा की स्त्रियाँ फूलों से सुगन्धित थीं उसी प्रकार लताएँ भी फूलों से सुगन्धित थीं और जिस प्रकार राजा की स्त्रियाँ अपने शरीर में प्रबालता - उत्कृष्ट केशों के सद्भाव को धारण कर रही थीं उसी प्रकार लताएँ भी अपने सब शरीर में प्रबालता - पल्लवों को धारण कर रही थीं परन्तु राजा की स्त्रियाँ तो यहाँ-वहाँ घूम रही थीं और लताएँ स्थिरता को नहीं छोड़ रही थीं।।३।।

पुष्परूपी सम्पत्ति का विप्लव-लूटमार उपस्थित होने पर वायु के वशीभूत वृक्ष भय से ही मानों काँप उठे थे और दीर्घकाल तक उन पर निवास करने वाले भ्रमर शब्द करते हुए उनके पास जाकर मानों रो ही रहे थे।।४।।

ऊँचाई के कारण जिन पर मनुष्यों का चढ़ना कठिन था ऐसे वृक्षों पर बहुत दूर तक लताएँ चढ़ गयीं। उन वृक्षों के अग्रभाग पर पुष्परूपी लक्ष्मी ऐसी जान पड़ती थी मानों वह स्वयं अपने निवास की रक्षा ही करना चाहती हो।।५।।

निगृह्य शाखासु नितम्बिनीजने
प्रसूनगुच्छानवलूय चिन्वति।
मधुव्रतानां ध्वनिरुद्गतोऽभवत्
[1]प्रवेदनाध्वान इव द्रुमैः कृतः।।६।।

नतभ्रुवां [2]केचिदनोकहा वने
प्रसूनशाखास्ववलम्बतां गताः।
ततः प्रभृत्युद्भविनो विरेजिरे
वराङ्गनाङ्गा इव कल्पपादपाः।।७।।

प्रवालशय्यामधिशिश्यिरे मुदा।
लतागृहे काश्चन वारयोषितः।
मधूत्सवासादितरागसंपदा
समन्ततः पल्लविता इव क्षणे।।८।।

पुरो दधानः कुसुमावलीं प्रियां
प्रसूनतल्पे तरुमूलकल्पिते।
नृपः स रेमे परितोऽवधारयन्
वसन्तगीतं वनितामुखोद्गतम्।।९।।

विशोधयन्व्यालमृगान्सतस्करान्
स चण्डकर्मा परितो वनं तदा।
अकम्पनं नाम महामुनीश्वरं
ददर्श रम्यं तरुमूलमाश्रितम्।।१०।।

उपस्थितं साधुसमाधिचेतसा
मुनिं विनीतः स विनम्य पादयोः।
अपृच्छदेवं [3]प्रतिपत्तुमिच्छया
करोति हि श्रेयसि भव्यतागुणः।।११।।

१. पूत्कारशब्दः २. वृक्षाः ३. ज्ञातुम्

जब स्त्रियाँ शाखाओं को पकड़ कर फूलों के गुच्छे तोड़ने लगीं तब भ्रमरों का जो शब्द उत्पन्न हुआ था वह ऐसा जान पड़ता था मानों वृक्षों द्वारा किया हुआ वेदना का शब्द ही था अर्थात् उनके रोने की आवाज ही थी।।६।।

वन में कितने ही वृक्ष फूलों की शाखाओं में स्त्रियों की अवलम्बनता को प्राप्त हो रहे थे अर्थात् वन में कितनी ही स्त्रियाँ वृक्षों की पुष्पित शाखाओं को पकड़ कर खड़ी थीं। उस समय वे वृक्ष उत्तम स्त्रियाँ प्रदान करने वाले कल्पवृक्षों के समान सुशोभित हो रहे थे। भावार्थ - जिस प्रकार भाजनांग, वस्त्रांग तथा मद्यांग आदि नाम के कल्पवृक्ष होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष वराङ्गनाङ्ग कल्पवृक्षों के समान जान पड़ते थे।।७।।

कितनी ही वारांगनाएँ लतागृह में बड़े हर्ष से पल्लवों की शय्या पर शयन कर रही थीं। वसन्तोत्सव से प्राप्त रागसम्पत्ति के द्वारा वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों उस समय सब ओर से पल्लवित - पल्लवों से व्याप्त ही हो रही थीं।।८।।

राजा यशोमति अपनी कुसुमावली नामक प्रिया को आगे कर वृक्ष के नीचे निर्मित फूलों की शय्या पर, चारों ओर स्त्रियों के मुखों से निकले वसन्त-गीतों को सुनता हुआ क्रीड़ा कर रहा था।।९।।

उस समय वह चण्डकर्मा नामका चाण्डाल चारों ओर से वन को शुद्ध करता हुआ हिंसक जन्तुओं तथा चोरों को दूर हटा रहा था कि उसने एक वृक्ष के नीचे विराजमान अकम्पन्न नामक अतिशय सुन्दर महामुनिराज को देखा।।१०।।

ध्याननिमग्न चित्त से विराजमान उन मुनिराज के चरणों में नमस्कार कर विनीत चण्डकर्मा ने जानने की इच्छा से उनसे इस प्रकार पूछा। ठीक ही है क्योंकि भव्यतारूपी गुण जीव को कल्याणमार्ग में संलग्न करता ही है।।११।।

निमील्य नेत्रे स्थिरमासनं त्वया
निबध्नता किं भगवन् विचिन्तितम्।
फलं च तच्चिन्तनया किमुच्यतां
न निष्फलं यच्चरितं भवादृशाम्।।१२।।

अवोचदेवं मुनिरप्युदारधी-
रवेत्य भव्यं हृदि चण्डपाशिकम्।
अयं ममात्मा सुविविच्य भावितो
भवप्रबन्धार्णवमुत्तितीर्षुणा।।१३।।

निशम्य चैतद्वचनं महामुनेः
स चण्डकर्मा पुनरित्यवोचत।
तयोर्न भेदः खलु देहदेहिनो -
र्मयोह्यते विस्तरतोऽद्य तद्यथा।।१४।।

निगृह्य चोरं तु [1]निकृत्य चोच्चकैः
कदाचिदेकं परमाणुमात्रकम्।
मया हि जीवः खलु नोपलक्षितः
पृथग्भवेच्चेति मयोपलक्ष्यते।।१५।।

तथान्यथा तस्कर एव केवलं
प्रमाय पूर्वं तुलयाथ मारितः।
तया पुनः संमित एव तत्प्रमः
पृथक्स चेदल्पतयावतिष्ठते।।१६।।

प्रवेश्य चोरं हि महत्कुसूलकं
विलिप्य लाक्षां बहिरप्यरन्ध्रकम्।
गते हि काले ददृशे शरीरकं
न जीवमार्गस्तदलीक[2]मुच्यते।।१७।।

१. नितरां छित्वा २. मिथ्या

हे भगवन्! आप स्थिर आसन बाँध कर तथा नेत्र बन्द कर क्या चिन्तन कर रहे हैं और उस चिन्तन का फल क्या है? यह कहिये क्योंकि आप जैसे महानुभावों का चरित निष्फल नहीं होता है।।१२।।

महाबुद्धिमान् मुनिराज ने अपने हृदय में उस चण्डकर्मा को भव्य जान कर इस प्रकार कहा कि संसारसागर को तैरने की इच्छा करने वाले मेरे द्वारा शरीर से पृथक् कर इस आत्मा का चिन्तन किया गया है।।१३।।

महामुनि के ये वचन सुनकर वह चण्डकर्मा पुनः इस प्रकार बोला कि निश्चय से शरीर और आत्मा में तो मुझे कोई भेद नहीं जान पड़ता। इस बात को मैं विस्तार से कहता हूँ। जैसे [illegible] एक बड़े चोर को पकड़ कर मैंने उसके टुकड़े-टुकड़े किये परन्तु मुझे एक परमाणु बराबर भी जीव दिखायी नहीं दिया। यदि शरीर से जीव पृथक् होता तो अवश्य दिखायी देता।।१४-१५।।

तथा दूसरी बात यह है कि एक बार एक चोर को मैंने तराजू से पहले तौल कर फिर मारा और मारने के बाद पुनः तौला तो वह उतना ही रहा जितना पहले था। यदि शरीर से जीव पृथक् है तो जीव के निकल जाने पर उसे कम हो जाना चाहिये था।।१६।।

इसी तरह एक बार एक चोर को कुटिया में प्रविष्ट कर बाहर से लाख का ऐसा लेप लगा दिया कि कहीं छिद्र नहीं रहा। समय व्यतीत होने पर जब देखा तो केवल शरीर ही दिखा, जीव के निकलने का मार्ग नहीं दिखा इसलिये जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं, यह मिथ्या कहा जाता है।।१७।।

मुनिर्बभाषे शृणु चोत्तरत्रयं
तरौ [1]कृशानुर्दलितेऽपि खण्डशः।
न दृश्यते सोऽरणिमन्थनादृते
तथा शरीरे समुपैहि निश्चयम्।।१८।।

प्रमाय भस्त्रां तुलया पुनश्च तां
प्रपूर्णवायुप्रमितां विलोकयन्।
प्रमाणभेदोऽत्र न दृश्यते यथा
तयोः पृथक्त्वेऽपि तथैव निश्चितम्।।१९।।

प्रविश्य गेहं पुरुषेऽप्यरन्ध्रकं
धमत्यलं शङ्खमुदात्तनादकम्।
ध्वनिर्बहिर्गच्छति नास्ति तत्पथ-
स्तथात्र मन्यस्व विचारपूर्वकम्।।२०।।

स कीदृशश्चेदयमुच्यते महा -
ननाद्यनन्तः स्वपरावभासकः।
स्वतोऽन्यतश्चैष पुनः प्रतिक्षणं
विवर्तते हेतुफलात्मना क्रमात्।।२१।।

स एव कर्ता खलु पुण्यपापयोः
स एव भोक्ता सुखदुःखयोस्तथा।
उपायसिद्ध्या परिभावितः पुनः
स एव तत्कर्ममलैर्विमुच्यते।।२२।।

प्रयोजनं तत्परिभावनाविधे -
र्हितावबोधादहितस्य वर्जनम्।
हितं तु सम्यक्त्वमिदं तनूभृतां
प्रतीहि तेषामहितं विपर्ययम्।।२३।।

1. अग्निः

मुनिराज ने कहा कि तुम तीन उत्तर सुनो। जिस प्रकार अरणि वृक्ष के खण्डखण्ड कर देने पर भी उसके मन्थन के बिना उसमें रहने वाली अग्नि दिखायी नहीं देती उसी प्रकार शरीर के खण्ड-खण्ड होने पर भी उसके भीतर रहने वाला जीव दिखायी नहीं देता, ऐसा तुम निश्चय से जानो।।१८।।

जिस प्रकार कोई मनुष्य (धौंकनी) भस्त्रा को पहले तराजू से तौल कर पश्चात् पूर्ण हवा से युक्त कर देखता है तो उसे उसके प्रमाण में कोई भेद नहीं दिखायी देता, ऐसी प्रकार शरीर और आत्मा के पृथक् होने पर भी उसमें कोई भेद नहीं मालुम होता, ऐसा निश्चय है।।१९।।

जैसे कोई पुरुष छिद्ररहित घर में प्रवेश कर ऊँचे शब्द वाला शंख जोर से फूँकता है तो उसकी ध्वनि बाहर तो जाती है पर उसका मार्ग नहीं होता। उसी प्रकार शरीर से जीव बाहर तो जाता है पर उसका मार्ग नहीं होता। ऐसा तुम विचार कर श्रद्धान करो।।२०।।

वह जीव कैसा है? यदि यह जानना चाहते हो तो कहते हैं। वह जीव महान् है अर्थात् लोकाकाश के बराबर असंख्यातप्रदेशी है, अनादि अनन्त है, स्वपर-प्रकाशक है तथा निज और पर कारणों से प्रतिक्षण परिवर्तन करता रहता है। इसका पूर्वक्षण का परिणमन हेतु - कारण और उत्तर क्षण का परिणमन फल--कार्य रूप होता है। यह कारण-कार्य रूप परिणमन क्रम से होता है।।२१।।

निश्चय से वह जीव ही पुण्य-पाप का कर्ता है, वही सुख-दुःख का भोक्ता है और वही उपायसिद्धि की भावना से युक्त होता हुआ कर्ममल से मुक्त होता है।।२२।।

उपायसिद्धि की भावना का प्रयोजन है हित का ज्ञान कर अहित को छोड़ना। प्राणियों के लिये यह सम्यक्त्व हित है और उससे विपरीत मिथ्यात्व अहित है।।२३।।

सरागसम्यक्त्वगुणैर्व्रतैरयं
सदैव बध्नाति हि पुण्यमात्मनि।
वदन्ति सम्यक्त्वममन्दमेधसो[1]
रुचिं तु जीवादिपदार्थगोचराम्।।२४।।

अहिंसनं सत्यमचौर्यमुच्चकै –
रकामसेवा विषयेष्वमूर्च्छनम्।
व्रतानि पञ्चेति फलं त्वनुक्रमा –
द्विभक्तं तेषामिति वर्ण्यते बुधैः।।२५।।

अहिंसनं वैरहरं परं भवे –
त्तनोति सत्यं तदमोघवाक्यताम्।
अचौर्यमाकर्षति रत्नसंचयं
बलावहं ब्रह्मचरित्रमूर्जितम्।।२६।।

भवस्य पूर्वापरकोटिभाविनो
भवत्यमूर्च्छा व्रतिनः प्रवेदनम्।
त्यजन्ति सन्तो मधुमद्यमांसकं
व्रतेषु पुष्टिं विधिवद् विधित्सवः[2]।।२७।।

विविच्य सम्यक्त्वमुदीरितं मया
न तत्परं किञ्चिदिहात्मने हितम्।
व्रतैर्विहीनोऽपि तदुद्वहज्जनो
न जातु दुःखादिनिवासमृच्छति।।२८।।

इह व्रतानां तु विपर्ययैर्जनः
प्रविश्य कष्टं भवनाट्यमण्डपम्।
विधृत्य नानाविधयोनिभूमिकां
परिभ्रमन्क्लेशमुपैति केवलम्।।२९।।

१. विशालबुद्धयः २. विधातुं कर्तुमिच्छव

सराग सम्यक्त्व रूप गुण तथा व्रतों के द्वारा यह जीव अपने आप में पुण्य का बन्ध करता है। विशाल बुद्धि के धारक गणधरादिक देव जीवादि पदार्थ-विषयक श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते हैं।।२४।।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और विषयों में मोहित नहीं होना - अपरिग्रह ये पाँच व्रत हैं। विद्वानों द्वारा उन व्रतों का फल पृथक्-पृथक् इस प्रकार कहा जाता है।।२५।।

अहिंसा, वैर को हरने वाला उत्कृष्ट साधन है; सत्य, अमोघवाक्यता को विस्तृत करता है अर्थात् सत्य बोलने वाले मनुष्य के वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते; अचौर्यव्रत, रत्नसमूह को आकर्षित करता है और बलिष्ठ ब्रह्मचर्य व्रत, बल को उत्पन्न करने वाला है।।२६।।

अमूर्च्छा - अपरिग्रह, व्रती मनुष्य के पूर्व और आगामी भव को सूचित करने वाला है। जो सत्पुरुष व्रतों को विधिवत् पुष्ट करना चाहते हैं वे मधु मद्य और मांस का त्याग करते हैं।।२७।।

मैंने पृथक्-पृथक् विवेचन कर सम्यक्त्व का वर्णन किया है। आत्मा के लिये इसके सिवाय अन्य कुछ हितकारी नहीं है। जो मनुष्य सम्यक्त्व को धारण करता है वह व्रतों से विहीन होने पर भी दुःखादि के निवास को प्राप्त नहीं होता।।२८।।

इस संसार में अव्रतों के द्वारा मनुष्य कष्टदायक संसाररूपी नाट्यशाला में प्रवेश कर तथा नाना प्रकार की योनि रूपी वेष को धारण कर परिभ्रमण करता हुआ मात्र क्लेश को प्राप्त होता है।।२९।।

यशोधरस्तज्जननी च यावुभौ
निहत्य तौ [1]कृत्रिमताम्रचूडकम्।
भवेषु विभ्रम्य नितान्तदुःखिता –
विमौ तवान्ते वसतोऽद्य कुक्कुटौ।।३०।।

करोति दुःखं यदि दूरदुःसहं
वधस्तु संकल्पनया विचेष्टितः।
किमङ्गसाक्षात्किमुतानृतादिभिः
समन्वितोऽसौ यदि [2]सामवायिकैः।।३१।।

विमुञ्च तद्वत्स विहिंसनादिकं
ममेदमाजीवनमित्यलं धिया।
वदन्ति सन्तो हि यदात्मसंविदो
हिताहितादानविवर्जनं फलम्।।३२।।

इदं वचस्तस्य निशम्य सन्मुनेः
स चाददे दृष्टिमणुव्रतोत्तराम्।
अनुस्मृतातीतभवौ च कुक्कुटौ
ततो मुदा चुकुशतुश्च तावुभौ।।३३।।

नृपस्तदानीं धनुषि स्वकौशलं
मृगीदृशे दर्शयितुं कृतोद्यमः।
विविच्य विव्याध [3]निनादवेधिना
शरेण तौ पञ्जरवासिनौ खगौ।।३४।।

विमुक्तवन्तौ व्रतरत्नबन्धुरं
मनः समाधाय तनुं पतत्रिणौ।
अधत्त गर्भे कुसुमावली तदा
मणीव गूढद्युतिबन्धनौ खनिः।।३५।।

१. कृत्रिमकुक्कुटम् २. समुदायस्थैः ३. शब्दवेधिना

जो राजा यशोधर और उनकी माता थी वे दोनों कृत्रिम मुर्गे को मारकर अनेक भवों में भ्रमण करते हुए अत्यन्त दुखी हुए हैं। अब वे मुर्गे होकर इस समय तुम्हारे पास में रह रहे हैं।।३०।।

जब संकल्प मात्र से किया हुआ वध अत्यन्त दुःसह दुःख को करता है तब असत्य भाषण आदि सभी पापों से जो साक्षात् युक्त है उसका क्या कहना है?।।३१।।

इसलिये हे वत्स! इस हिंसा आदि पापसमूह का जीवनपर्यन्त के लिये त्याग करो। अधिक विचार करना व्यर्थ है क्योंकि आत्मज्ञानी सत्पुरुष जो कहते हैं उसका फल हित को ग्रहण करना और असत् को छोड़ना है।।३२।।

उन उत्तम मुनिराज के ये वचन सुन कर उस चण्डकर्मा ने अणुव्रतों के साथ सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया और जिन्हें पूर्वभव का स्मरण हो गया है ऐसे वे दोनों मुर्गे भी हर्ष से शब्द करने लगे।।३३।।

उसी समय राजा यशोमति ने जो अपनी स्त्री के लिये धनुष विषयक अपना कौशल दिखाने का उद्यम कर रहा था, शब्दवेधी बाण के द्वारा पिंजड़े में स्थित उन दोनों मुर्गों को पृथक्-पृथक् बाण चलाकर मार डाला।।३४।।

व्रतरूपी रत्न से सहित मन को स्थिर कर जिन्होंने शरीर को छोड़ा था ऐसे उन दोनों पक्षियों को राजा यशोमति की रानी कुसुमावली ने उस प्रकार गर्भ में धारण किया जिस प्रकार खान कान्तियुक्त दो मणियों को धारण करती है।।३५।।

असूत सा तौ तनयौ तयोः पुमान्
यशोधरश्चन्द्रमती तु कन्यका।
अवर्धिषातां [1]विधुतत्प्रभानिभौ
जनस्य नित्यं नयनामृतायितौ।।३६।।

विमुक्तबाल्ये वयसि प्रकुर्वतो -
रुदात्तविद्यासु परिश्रमं तयोः।
नृपो वनान्ते नियमस्थितं मुनिं
निरूपयन्नेव ययौ मृगाटवीम्।।३७।।

ततो मृगाणामनवाप्य हिंसनं
निवर्तमानो वदनेन शुष्यता।
मृगव्यविघ्नोऽयमिति क्रुधा मुना-
वचोदयत्पञ्चशतीं च शौवनीम्।।३८।।

तपःप्रभावात्तमनिघ्नतीं पुन-
र्विलोक्य तां तत्र विवृद्धमत्सरम्।
स्वहस्तहिंसां कलयन्तमागतो
वणिक्तु कल्याणसुहृत्प्रसङ्गतः।।३९।।

उपद्रवं तस्य मुनेर्विलोकय-
न्नवोचदेवं स तदा यशोमतिम्।
महामुनौ देव नमस्क्रियोचिते
किमीदृशं कर्तुमिह त्वमर्हसि।।४०।।

दुरीहितं किंच यदत्र तत्परं
तदेव मुष्णाति भवे भवे शिवम्।
मनस्तु नित्यं तदपि स्थिरं वह -
न्नजय्यशक्तिः शतयज्वनोऽप्ययम्।।४१।।

१. चन्द्रचन्द्रप्रभासदृशौ

समय पाकर कुसुमावली ने एक साथ एक पुत्र और एक पुत्री को उत्पन्न किया। उन दोनों में जो पुरुष था वह यशोधर था और जो कन्या थी वह चन्द्रमती थी। चन्द्रमा और उसकी प्रभा के समान मनुष्यों के नेत्रों के लिए अमृतस्वरूप वे दोनों निरन्तर बढ़ने लगे।।३६।।

जब वे बालक और बालिका शैशव अवस्था को छोड़ किशोर अवस्था में आकर उत्तम विद्याओं में परिश्रम करने लगे तब एक दिन राजा वन में ध्यानारूढ़ मुनि को देखता हुआ ही मृगवन में गया।।३७।।

तदनन्तर मृगों की हिंसा न पाकर शुष्क मुख से लौटते हुए राजा ने शिकार में विघ्न करने वाला यह मुनि ही है, यह विचार कर उन मुनि पर पाँचसौ कुत्ते छोड़ दिये।।३८।।

जब तप के प्रभाव से उन पाँच सौ कुत्तों ने मुनि का घात नहीं किया तब राजा का मत्सर भाव बढ़ गया, वह स्वयं अपने हाथ से उनका घात करने के लिये उद्यत हुआ। उसी समय प्रसङ्गवश राजा का कल्याणकारी मित्र एक वणिक् वहाँ पर आ पहुँचा।।३६।।

उन मुनिराज पर होने वाले उपद्रव को देखते हुए उस वणिक् ने उस समय राजा यशोमति से इस प्रकार कहा कि हे देव! नमस्कार करने के योग्य महामुनि के विषय में यहाँ ऐसा करने के लिये क्या आप योग्य हैं?।।४०।।

दूसरी बात यह है कि इनके विषय में की हुई जो दुष्ट चेष्टा है वही भव-भव में कल्याण का अपहरण करती है। इतना होने पर भी मन को सदा स्थिर रखने वाले ये मुनिराज इन्द्र के लिये भी अजेय शक्ति वाले हैं। भावार्थ - इन्हें जीतने में इन्द्र भी समर्थ नहीं है।।४१।।

अमर्षणोऽप्येष करोत्यनुग्रहं
विनिग्रहायैव भवत्यकोपनः।
अनारतं ज्ञानसमाहितात्मना -
मलोकसामान्यमिदं विचेष्टितम्।।४२।।

ततोऽस्य भक्त्या प्रणिपत्य पादयो -
र्गृहाण वाचं कृतदोषशोधनीम्।
प्ररोचते तुभ्यमिदं हि मद्वचो
न चेदधस्तादवयातुमिच्छसि।।४३।।

नृपस्तु तं प्रत्यवदत्कथं त्विमं
नमेयमस्नानतनुं मलीमसम्।
कुलेन कोऽसाविति निर्णयादृते[1]
वने [2]मृगव्यस्य विनिघ्नकारिणम्।।४४।।

वणिक् त्ववादीदयमेव सर्वदा
शुचिः सदाचारनिरुद्धकिल्विषः।
जलेन शुद्धिस्त्वपवित्रचेतसां
पुरीषमुष्टेर्बहिरम्बुमार्जनम्।।४५।।

कुलेन गङ्गोऽयमनङ्गनिर्जयी
चिरं कलिङ्गेष्वधिरूढविक्रमः।
सुदत्तनामा पुनरद्य तप्यते
तपः कुतोऽप्युद्धृतभोगलालसः।।४६।।

मृगव्यलीलाविनिघातकारणं
यदात्थ देव त्वममुं तथैव तत्।
अमुष्य धर्मप्रकृतेः प्रभावतो
वने न [3]पापर्धिरिह प्रवर्तते।।४७।।

१. विना २. आखेटस्य ३. आखेटः

ये क्रोधसहित होकर भी अनुग्रह करते हैं और क्रोधरहित होकर भी निग्रह के लिये समर्थ होते हैं। जिनकी आत्मा निरन्तर ज्ञान में लवलीन रहती है ऐसे महापुरुषों की यह चेष्टा असाधारण है।।४२।।

इसलिये भक्ति द्वारा इन मुनिराज के चरणों में नमस्कार कर कृतदोषों को दूर करने वाले इनके वचनों को स्वीकृत करो। यदि तुम्हें हमारे ये वचन नहीं रुचते हैं तो तुम नीचे नरक लोक में जाना चाहते हो।।४३।।

राजा ने इस वणिक् को उत्तर दिया कि जिनका शरीर स्नान से रहित है, जो मलिन हैं तथा शिकार में विघ्न करने वाले हैं, ऐसे इन मुनि को 'कुल की अपेक्षा यह कौन है' इसका निर्णय हुए बिना मैं कैसे नमस्कार कर सकता हूँ।।४४।।

वणिक् ने कहा – ये मुनिराज ही सदा शुद्ध हैं, सदाचार से इन्होंने पापों का निरोध कर दिया है। अपवित्र चित्त वाले मनुष्यों की जल से शुद्धि तो ऐसी है जैसी विष्ठा की मुट्ठी को बाहर से जल से साफ करना है।।४५।।

ये कुल से गङ्ग हैं, कामविजयी हैं, कलिङ्ग देश में इनका पराक्रम चिरकाल से प्रसिद्ध है, सुदत्त इनका नाम है, किसी कारण भोगों से इनकी लालसा हट गयी इसलिये आज यहाँ तप कर रहे हैं।।४६।।

हे राजन्! इन्हें तुमने जो शिकार की बाधा का कारण कहा है वह ठीक ही है। इन धर्मस्वभावी मुनिराज के प्रभाव से इस वन में शिकार नहीं होती है।।४७।।

सुहृद्वचस्तत्परिभाव्य भूपति -
स्तमादरेण प्रणनाम पादयोः।
अमन्दयैनं शिरसैनमर्दः -
न्करोमि सद्यः परिशुद्धिमागसः।।४८।।

मुनिश्च राज्ञः [1]स्वशिरश्चिकर्तिषो-
र्निवार्य हस्तेन हृदिस्थमब्रवीत्।
सविस्मयस्तं समपृच्छदादरा -
त्पितामहादेर्गतिमुर्वरापतिः।।४९।।

ततोऽवधिज्ञाननिरूपितं मुनि -
र्यथावदाख्यन्नृपतेर्मनीषितम्।
पितामहस्ते तपसा च पञ्चमा-
त्परं नृपः स्वर्गमगच्छदूर्जितम्।।५०।।

स तत्र दिव्याभरणैर्विभूषितो
नवोदितादित्यनिभश्च तेजसा।
सुखानि देवीनिवहेन निर्विश[2] -
न्ननूनकामो रमते दिवानिशम्।।५१।।

विषेण हत्वा निजमेव वल्लभं
तवापि माता व्यजनिष्ट कुष्ठिनी।
मृतापि सा दुर्गतिमभ्युपेयुषी
सुदुःखिता सीदति वत्स पञ्चमीम्।।५२।।

यशोधरस्ते जनकः पतत्रिणं
निहत्य तद्दोषवशेन कृत्रिमम्।
बभूव केकी शललोऽथ मीनक-
श्छागो द्विवारं क्रमतश्च कुक्कुटः।।५३।।

१. कर्तितुमिच्छोः २. भुञ्जानः

मित्र के उन वचनों का विचार कर राजा ने उन मुनिराज के चरणों में आदरपूर्वक प्रणाम किया और मन में ऐसा विचार किया कि मैं सिर के द्वारा इनकी पूजा करता हुआ शीघ्र ही अपराध की शुद्धि करूँ।।४८।।

मुनिराज ने अपना सिर काटने के इच्छुक राजा को हाथ से मना कर उसके हृदय की बात कही। राजा को बड़ा विस्मय हुआ कि इन्होंने बिना कहे मेरे हृदय की बात कैसे जान ली। अन्त में उसने आदरपूर्वक अपने पितामह आदि की गति पूछी।।४९।।

तदनन्तर मुनिराज ने अवधिज्ञान से जैसा देखा वैसा राजा की इच्छित वस्तु को कहा। उन्होंने कहा कि तुम्हारे पितामह राजा यशोघ तप के प्रभाव से अतिशय श्रेष्ठ छठे स्वर्ग में गये हैं।।५०।।

वे वहाँ दिव्य आभूषणों से विभूषित हैं, तेज के द्वारा नवीन उदित सूर्य के समान हैं, देवीसमूह के साथ उपभोग करते हैं और मनोरथों को पूर्ण करते हुए दिन-रात क्रीड़ा करते रहते हैं।।५१।।

हे वत्स! तुम्हारी माता भी विष के द्वारा अपने ही पति को मारकर कुष्ठिनी हुई और मरकर पाँचवीं पृथिवी में जाकर अत्यन्त दुखी होती हुई कष्ट भोग रही है।।५२।।

तुम्हारे पिता यशोधर कृत्रिम पक्षी को मारकर उसके दोष से क्रमशः मयूर, सेही, मच्छ, दो बार बकरा और मुर्गा हुए हैं।।५३।।

यशोर्धसूनोर्जननी क्रमादभू -
दनल्पदुःखा तत एव दोषतः।
स सारमेयो भुजगश्च वक्रक -
श्छागाङ्गना सा महिषोऽथ कुक्कुटः।।५४।।

ततो वनान्ते भवता निपातितौ
धनुर्भृता भूमिप शब्दवेधिना।
विमर्षशुद्ध्या कृकवाकुनन्दना-
विमावभूतां कुसुमावलीसुतौ।।५५।।

इति स्वसंकल्पनयापि हिंसया
निशम्य घोरं भवविभ्रमं पितुः।
नृपः स भीतो बहुजीवघाततो
व्यधत्त वैराग्यरसाधिकं मनः।।५६।।

तदीयपुत्रावपि तत्क्षणे गतौ
मुनीश्वरे वक्तरि तद्भवक्रमम्।
विभक्तमन्वस्मरतामपि स्वयं
प्रबोधकप्रायभवा खलु स्मृतिः।।५७।।

ततश्च निर्वेगपरो नराधिपो
नराधिनाथैर्बहुभिः समन्वितः।
विमुच्य राज्यं तनये तपोऽग्रही-
द्वणिक् च कल्याणसुहृन्महामतिः।।५८।।

पितुस्तपोविघ्नभयात्तदात्मज -
स्तदाग्रहीत्तन्नरनाथवैभवम्।
विरक्तचेता विषयेषु वत्तवा-
न्यशोधराख्याय निजानुजन्मने।।५९।।

यशोधर की माता भी उसी दोष के कारण क्रम से बहुत भारी दुःख उठाती हुई कुत्ता, साँप, नाकू, बकरी, भैंसा और मुर्गा हुई है।।५४।।

तदनन्तर हे राजन्! वनान्त में धनुष धारण करने वाले आपके द्वारा वे दोनों मुर्गे शब्दवेधी बाण के द्वारा मारे जा कर विचारों की विशुद्धि से ये कुसुमावली के पुत्र हुए हैं।।५५।।

इस प्रकार कृत्रिम मुर्गे में जीव का संकल्प कर की हुई हिंसा के द्वारा भी पिताजी ने भयंकर भवभ्रमण किया है, यह सुनकर राजा यशोमति बहुजीव-घात से भयभीत हो गया तथा उसने अपना मन वैराग्य रस से परिपूर्ण किया।।५६।।

जब मुनिराज उनके पूर्वभवों का क्रम कह रहे थे तब राजा यशोमति के पुत्र भी उसी क्षण अलग-अलग अपने पूर्वभवों का स्मरण स्वयं करने लगे। ठीक ही है क्योंकि निश्चय से स्मृति प्रायः प्रबोधक कारणों से उत्पन्न होती है।।५७।।

तदनन्तर वैराग्य में तत्पर राजा ने बहुत राजाओं के साथ पुत्र के लिये राज्य देकर तप ग्रहण कर लिया। इसी प्रकार उसके कल्याणकारी मित्र महाबुद्धिमान् वणिक् ने भी दीक्षा ले ली।।५८।।

राजा के पुत्र ने 'पिता के तप में विघ्न न हो', इस भय से उस समय तो राजवैभव को ग्रहण कर लिया था परन्तु वह विरक्त चित्त था इसलिये उसने वह राजवैभव यशोधर नामक छोटे भाई के लिये दे दिया।।५९।।

ततो भगिन्या सह मुक्तमोहया
सुदत्तमासाद्य महामुनीश्वरम्।
त्यजन्परिष्पन्दमनिन्दया धिया
विमोक्षविद्यासुगुणैरशिक्ष्यत।।६०।।

प्रहर्षिणी

इत्थं यौ नृपतनयौ यशोमतीयौ
कान्तारे गुरुचरणावुपासिषाताम्।
आवां तावभयरुचिं तयोस्तु नाम्ना
मामुच्चैरभयमतीमिमां वदन्ति।।६१।।

रथोद्धता

अद्य ते नगरतो बहिर्वने
मारिदत्त वसतो महामुनेः।
वीक्षणाय नियमादिहागता -
वग्रहीष्वहि तु चण्डकर्मणा।।६२।।

उपजातिः

संकल्पहिंसाजनितं तु घोरं
भवेषु दुःखं तदिदं स्मरन्तौ।
विमुच्य बाल्येऽपि विभूतिमिद्धा-
मास्तां हि शिष्यौ मुनिपुङ्गवस्य।।६३।।

पृथ्वी

क्व कृत्रिमपतत्त्रिणो वधविधिः क्व तद्दुःसहं
भवभ्रमणमावयोरिति मनःपरीतापिनौ।
जिघांसुमिह जीवराशिमधुना भवन्तं पुन -
र्विलोक्य कृतविस्मयौ कृतकृपौ च वर्तावहे।।६४।।

पश्चात् मोह का त्याग करने वाली बहिन के साथ सुदत्त नामक महामुनिराज के पास आकर चञ्चलता छोड़ प्रशस्त बुद्धि के द्वारा मुक्ति प्राप्त कराने वाली विद्या में निपुण आचार्यों से उसने शिक्षा प्राप्त की।।६०।।

इस प्रकार राजा यशोमति के जो पुत्र और पुत्री वन में गुरुचरणों की सेवा करते थे वही हम दोनों हैं। उनमें मुझे नाम से अभयरुचि और इसे अभयमती कहते हैं।।६१।।

हे मारिदत्त! आज वे महामुनि तुम्हारे नगर से बाहर वन में निवास कर रहे हैं। उनकी आज्ञा से आहार के लिये हम दोनों यहाँ आये थे कि चण्डकर्मा के द्वारा पकड़ लिये गये।।६२।।

संकल्पी हिंसा से उत्पन्न जो भयंकर दुःख पूर्वभवों में उठाया है उसका स्मरण करते हुए दोनों बाल्य अवस्था में ही विशाल विभूति को छोड़कर सुदत्त मुनिराज के शिष्य हुए थे।।६३।।

कहाँ हम दोनों का कृत्रिम पक्षी का वध करना और कहाँ वह दुःसह भवभ्रमण? इस प्रकार हम दोनों मन में सदा संताप करते रहते हैं। इस समय यहाँ जीवसमूह का घात करने के इच्छुक आपको देख कर हम दोनों आश्चर्य से चकित हैं, साथ ही हम लोगों को आप पर दया भी उत्पन्न हो रही है।।६४।।

उपजातिः

विरक्तिमासाद्य तु चण्डमारी
विलोक्यमाना वपुषा जनौघैः।
ननाम युग्मं वधदुःखभीरु-
स्तदङ्घ्रिपद्मार्पितशुद्धदृष्टिः।।६५।।

स्वागता

पूजयन्तु शुचिभिः कुसुमाद्यै –
र्मामितः प्रभृति मत्पदभक्ताः।
कुर्वतस्तु वधमत्र कुटुम्बं
नश्यतीत्यभिनिवेद्य तिरोऽभूत्।।६६।।

उपजातिः

देव्या तयोरर्चनया तयैव
चित्रीयमाणः[1] सह पौरवर्गैः।
अवेत्य तौ स्वस्य च भागिनेयौ[2]
स मारिदत्तो नृपतिर्जहर्ष।।६७।।

मालिनी

अपि च कुसुमदत्ते पुत्रवर्ये स्वराज्यं
विषयसुखविरक्तो मारिदत्तो विधाय।
वनगतमथ ताभ्यां श्रीसुदत्तं प्रपन्नो
निरुपमविनयश्रीः संयमित्वं प्रपेदे।।६८।।

१. आश्चर्यं प्राप्नुवन् २. भगिनीसुतौ

उन क्षुल्लक क्षुल्लिका की आज्ञा से जिसे शुद्ध दृष्टि प्राप्त हुई थी, जो हिंसा के दुःख से भयभीत हो रही थी तथा जनसमूह जिसे शरीरधारिणी के रूप में देख रहे थे ऐसी उस चण्डमारी देवता ने वैराग्य प्राप्त कर क्षुल्लक-क्षुल्लिका के युगल को नमस्कार किया।।६५।।

"मेरे चरणों के भक्त आज से पवित्र पुष्प आदि के द्वारा मेरी पूजा करें। जो जीवघात करेगा उसका कुटुम्ब नष्ट हो जायगा", यह कहकर वह देवी अदृश्य हो गई।।६६।।

उसी देवी के द्वारा उन क्षुल्लक-क्षुल्लिका की पूजा देख कर जो नगरवासियों के साथ आश्चर्य कर रहा था ऐसा वह मारिदत्त राजा उन दोनों को अपना भानेज तथा भानेजन जान कर हर्षित हुआ।।६७।।

जो विषयसुख से विरक्त हो चुका था तथा जिसकी विनयलक्ष्मी उपमा रहित थी ऐसा राजा मारिदत्त कुसुमदत्त नामक श्रेष्ठ पुत्र को अपना राज्य देकर उन क्षुल्लक-क्षुल्लिका के साथ वन में स्थित सुदत्त मुनिराज के पास गया और उसने वहाँ संयम धारण कर लिया।।६८।।

वसन्ततिलका

विद्यामधीत्य सुचिरं गुरुसन्निधाने
तप्त्वा तपश्च बहिरन्तरिति द्विभेदम्।
त्यक्त्वा समाधिविधिना तनुमायुरन्ते
देवोऽभवत् स नृपतिस्त्रिदिवे तृतीये।।६९।।

उपजातिः

अल्पं निजायुष्यमवेत्य तौ च
तपश्चरित्वा यमतौ यथोक्तम्।
योगेन निर्मुच्य शरीरबन्ध-
मीशानकल्पेऽनिमिषावभूताम्[1]।।७०।।

हरिणी

अमरवनितामारस्मेरावलोकनगोचरं
तरुणतरणिच्छायाचोरं तदा दधतौ वपुः।
विषमभवनिःसारीकर्तुर्मुनेः स्मरणावहौ
परमसुखिनौ रेमाते तौ [2]सुरावसथस्थितौ।।७१।।

वसन्ततिलका

स्वर्गाधिरोहमवधार्य तयोः सुदत्ता-
द्यौधेयभूतलपतेश्च तपोबलेन।
तद्विप्रयोगजनितं प्रविमुच्य शोकं
प्रीतिं यशोधरनृपः परमां जगाम।।७२।।

१. देवौ २. स्वर्गस्थितौ

गुरु के निकट चिरकाल तक विद्या पढ़ कर तथा बाह्याभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तप तपकर उस राजा ने आयु के अन्त में समाधि की विधि से शरीर का परित्याग किया और फलस्वरूप तीसरे स्वर्ग में देव हुआ।।६९।।

क्षुल्लक-क्षुल्लिका भी अपनी आयु अल्प जान यथोक्त तपश्चरण करने लगे और योग द्वारा शरीर रूपी बन्ध को छोड़ कर ईशान स्वर्ग में देव हुए।।७०।।

देवाङ्गनाएँ जिसे कामजनित मन्दमन्द मुसक्यान के साथ देख रही थीं तथा जो मध्याह्न के सूर्य की कान्ति को चुराने वाला था ऐसे शरीर को धारण करने वाले, स्वर्गस्थित, परमसुखी वे देव, विषम संसार को निःसार करने वाले मुनिराज का स्मरण करते हुए वहाँ-वहाँ क्रीड़ा करते थे।।७१।।

राजा यशोधर, सुदत्त महाराज से क्षुल्लक-क्षुल्लिका तथा राजा मारिदत्त का तपोबल से स्वर्गाधिरोहण जान कर एवं उनके वियोग से उत्पन्न शोक को छोड़ कर परम प्रीति को प्राप्त हुए।।७२।।

मालिनी

गुरुषु विनयवृत्तिं बन्धुषु प्रेमबन्धं
रिपुषु करकृपाणं दर्शयन्नाहवेषु।
अधिगतनयसिन्धुः [1]सत्यसन्धः स राजा
रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार।।७३।।

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्म्ये वर्त्मनि तेजसा नियमयन् [2]वर्णांस्तथैवाश्रमान्[3]
वृद्धाराधनया हृषीकविजयादुत्तीर्णविद्यार्णवः।
पारावारपरम्परीणपरमख्यातिर्नयोत्कृष्टधी-
रासेविष्ट यशोधरो नरपतिर्दीर्घं त्रिवर्गश्रियम्।।७४।।

इति श्रीमद्वादिराज सूरिविरचिते यशोधरचरिते महाकाव्ये
चतुर्थः सर्गः

जो गुरुओं में विनयवृत्ति, बन्धुओं में प्रेमबन्ध और युद्ध में शत्रुओं पर हाथ की तलवार दिखाता था, जिसने नीति के सागर को जान लिया था, जो सत्य प्रतिज्ञा वाला था तथा रण के अग्रभाग में विजय प्राप्त करने वाला सिंह था ऐसा वह राजा यशोधर राजलक्ष्मी को धारण करता था।।७३।।

जो अपने तेज से वर्णों तथा आश्रमों को धर्ममार्ग में नियमित रखता था, वृद्धों की सेवा और इन्द्रियों की विजय से जिसने विद्यारूपी सागर को पार किया था, जिसकी उत्कृष्ट ख्याति समुद्र के उस पार जा पहुँची थी तथा नीतिविज्ञान से जिसकी बुद्धि उत्कृष्ट थी ऐसा वह यशोधर राजा दीर्घकाल तक त्रिवर्गलक्ष्मी की सेवा करता रहा। भावार्थ - धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्गों का समता भाव से पालन करता रहा।।७४।।

इस प्रकार वादिराजसूरि विरचित यशोधरचरित नामक महाकाव्य में चौथा सर्ग समाप्त हुआ।

१. सत्यप्रतिज्ञः २. ब्राह्मणादीन् ३. ब्रह्मचर्यादीन्